जीवन-दृष्टि

•

लेखक
विनोबा

अनुवादक
वैजनाथ महोदय

•

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

प्रकाशक : मन्त्री, अ० भा० सर्व-सेवा-संघ,
राजघाट, वाराणसी
संस्करण : पहला
प्रतियाँ : ३,०००; मई, १९६३
मुद्रक : शंकर राम,
शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी
मूल्य : १.२५ नये पैसे

Title : JEEVAN-DRISHTI
Author : Vinoba
Publisher . Secretary,
A. B. Sarva Seva Sangh,
Rajghat, Varanasi
Edition : First
Copies 3,000, May '63
Printer Shankar Ram,
Shiva Press,
Prahlad Ghat, Varanasi
Price : 1 25 n. P.

प्रस्तावना

मेरे लेखों और व्याख्यानो का यह चयन अध्यापक चोरघड़े ने किया है। 'जीवन-दृष्टि' जैसा सरस और सार्थक नाम भी उन्होंने दिया है। मराठी का पहला संस्करण मेरे जेल रहते समय निकला था। दूसरे संस्करण के समय मैने इन व्याख्यानो का संशोधन कर दिया। लेखो मे कोई खास परिवर्तन करना नही था। कही एक आध शब्द बदल दिया है। अनुकम मे लेख तारकाङ्कित कर दिये गये है।

इस पुस्तक को विद्यार्थी पढेगे। उनसे और सब लोगो को मेरा सुभाव है कि वे जीवन-दृष्टि से इसे देखें, केवल साहित्य की दृष्टि से नही। इसमे वर्णित विचारों की वे बुद्धिपूर्वक छानबीन करें और जो विचार ग्रहण हो, उसे आचरण में लाने का प्रयत्न करे। पहले 'साहित्य उलटी दिशा मे' लेख पढें। फिर अन्य लेख और व्याख्यान पढे।

ज्ञान की अपेक्षा 'दृष्टि' महत्त्व की हुआ करती है। चोरघडेजी की अपेक्षा के अनुसार प्रस्तुत पुस्तक से वह दृष्टि पाठको को प्राप्त हो।

परधाम, पवनार

६-७-'४६

प्रकाशकीय

विनोबाजी की 'जीवन-दृष्टि' मराठी पुस्तक का यह अनुवाद पाठकों तक पहुँच रहा है। इसके पहले 'क्रान्त दर्शन' तथा 'मधुकर' ये दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। ये तीनों पुस्तकें मराठी में लंबे समय से सुप्रचारित हैं। विलम्ब से ही सही, लेकिन मूल रूप में ये तीनों पुस्तकें हिन्दी पाठकों तक पहुँच सकीं, इसकी हमे प्रसन्नता है।

पाठक देखेंगे कि ये तीनों पुस्तकें विनोबाजी के सूक्ष्म और तेजस्वी विचारों से श्रोतप्रोत हैं। ज्यों-ज्यों पढ़ते हैं, त्यों-त्यों आनन्द वृद्धिगत होता जाता है। विचारों की इस त्रिवेणी मे अवगाहन कर मन विभोर हो उठता है।

आशा है, स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व लिखी गयी विनोबाजी की इन कृतियों का हिन्दी पाठक-वर्ग समुचित मनन-चिन्तन करेगा।

•

अनुक्रम

यज्जातीयो यादृशो यत्स्वभावः
पादच्छायां संश्रितो योऽपि कोऽपि।
तज्जातीयस् तादृशस् तत्स्वभावः
श्लिष्यत्येनं सुन्दरो वत्सलत्वात्॥

—श्री कूरथल्वार

तमिल वैष्णव भक्त श्री कूरथल्वार के उपर्युक्त श्लोक का अर्थ यह है कि जो भगवान् के चरणों की छाया का आश्रय करता है, भगवान् सुन्दरराज वात्सल्यभाव से उसे गले लगाते हैं। भक्त जिस जाति का, जिस स्वभाव का और जैसा होगा, भगवान् उसके लिए उस जाति का, उस स्वभाव का और वैसा बन जाता है।

मदुरा के निकट सुप्रसिद्ध 'अलगार' मन्दिर में भगवान् विष्णु की एक मूर्ति है, जो बहुत प्राचीन काल से स्थापित है। उसका नाम है सुन्दर-राज। हिन्दी-प्रचार-सभा के उपाधि-वितरण समारोह के लिए मैं मद्रास पहुँचा, तो मदुरा की मीनाक्षी देवी के दर्शन कर आया। भगवान् की कृपा से वहाँ से आठ मील पर पहाड़ों के बीच एक सुन्दर स्थान पर बसे इन भगवान् सुन्दरराज के दर्शन का भी लाभ मुझे हो गया। कारण, मीनाक्षी के समान यह मन्दिर भी हरिजनों के लिए खोल दिया गया था। नाम के अनुरूप ही मूर्ति भी सचमुच सुन्दर है। पंढरपुर के पांडुरंग की याद हो आती है। यों कमर पर हाथ नहीं रखे हैं, पर और सब प्रकार से ठीक वही शान है। पच्चीकारी और भव्य गोपुर आदि तो दक्षिण की ही विशेषताएँ हैं। ये चीजें पांडुरंग को सुलभ नहीं। बाकी

भक्त-वत्सलता तो वही है। पाडुरग की तरह ही सुन्दरराज भी उधर 'चित-चोर' कहे जाते हैं। सुन्दरराज के भक्तों में पाडुरग भी प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक ने पाडुरग के वर्णन में कहा है :

मा यात पान्था' पथि भीमरथ्यां
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूर्तः समाकर्षति चित्तवित्तम् ॥

अर्थात् "यात्रियो, उधर कहीं भीमा नदी के तीर पर भूलकर भी मत जाओ। वहाँ साँवले रग का एक दिगम्बर बसता है। यों तो दीखता है कि वह कमर पर हाथ रखे खड़ा है, पर धूर्त इतना है कि लोगों के चित्तरूपी धन को देखते देखते चुरा लेता है।"

पाडुरग और सुन्दरराज दोनों एक ही देव हैं। भगवान् कभी अपना स्वभाव नहीं छोड़ते। दयाशील, कृपानिधान, भक्तवत्सल, जात पाँत का खयाल न करनेवाले! सत नामदेव के शब्दों में **'सर्वां लागीं यावें समान दर्शन'** इस वृत्ति के अर्थात् सबको समान रूप से दर्शन देनेवाले हैं। सुन्दरराज के मन्दिर में हरिजनों को प्रवेश मिल जाने के कारण हम कह सकते हैं कि इनके बारे में तो नामदेव और कूरथलवार की भावनाओं का समाधान हो गया। परन्तु पाडुरग के मन्दिर में यह कब होगा? वहाँ मनुष्यमात्र के लिए प्रवेश की कब छूट मिलेगी?

नामदेव के समय में तो स्वय नामदेव को ही उनके लूटमार के धन्धे के कारण प्रवेश नहीं मिला। तब उन्हें यह कहकर सत्याग्रह करना पड़ा था

पतित-पावन नाम ऐकुनी आलों मी दारा।
पतित पावन न होसि म्हणुनी जातों माघारा॥

अर्थात् प्रभो! आपका 'पतित-पावन' नाम सुनकर दरवाजे आया

हूँ। लेकिन आप पतित-पावन नहीं बन रहे हैं, इसलिए वापस लौट जाता हूँ।

जहाँ तक उनका सम्बन्ध था, उनका वह सत्याग्रह सफल हो गया। लेकिन अब तो हरिजनों की तरफ से सभी भक्तजनों के सत्याग्रह करने की जरूरत है। हरिजन मन्दिर में घुसने का सत्याग्रह न करें, वह तो दुराग्रह होगा। बल्कि भक्तजन ऐसा सत्याग्रह करें कि जब तक हरिजनों को मन्दिर में नहीं आने दिया जायगा, तब तक वे स्वयं भी मन्दिर में नहीं जायेंगे।

मेरा तो यह सत्याग्रह निरन्तर जारी है। मेरा दिल जानता है कि पाण्डुरंग के बारे मे मेरी कितनी भक्ति है। मूर्ति के दर्शन के प्रति मेरी श्रद्धा है। ज्ञानदेव आदि की विचार-संगति में मेरा अब तक का जीवन बीता है। किन्तु इच्छा होते हुए भी अब तक इन आँखों से मैं पाण्डुरग का दर्शन नहीं कर सका हूँ। मैं तो उससे कहता रहता हूँ कि जब तक तेरे मन्दिर में हरिजनों को प्रवेश नहीं मिलेगा, तब तक मेरा भी अपनी जगह पर पड़ रहना ठीक है। मेरी आतुरता वह जानता है। और मुझे सन्देह नही कि उसके दिल में भी यही आतुरता है।

> 'काळी घोंगडी काळी काठी। काळा दोरा कंठीं।
> बोली महाराची थेट मऱ्हाटी। गांडीस लंगोटी।
> पाईं वाहणा मोठा शाहणा। पतित-पावन नाम जयाचें॥'

अर्थात् काला कंबल, काली लाठी और कंठी भी काली है। बोली महारों की ठेठ मराठी और कमर में लँगोटी पहने है। पैरों में जूते पहन बड़ा सयाना खड़ा है, जिसका नाम पतित-पावन है।

ग्राम-सेवा वृत्त ६-१ सुरगाँव, ५-४-'४२

जीवन की तीन प्रधान बातें : २ :

अपने जीवन में तीन बातों को प्रधान पद देता हूँ। उनमें पहली है उद्योग। हमारे देश में आलस्य का भारी वातावरण है। यह बेकारी के कारण घर कर गया है। शिक्षितों का तो उद्योग से कोई ताल्लुक ही नहीं रहता। फिर जहाँ उद्योग नहीं, वहाँ सुख कहाँ? मेरे मत से जिस देश से उद्योग उठ गया, उसे भारी घुन लगा समझना चाहिए। जो खाता है उसे उद्योग तो करना ही चाहिए, फिर वह चाहे जिस तरह का हो। बिना उद्योग के बैठना काम की बात नहीं। घरों में उद्योग का वातावरण होना चाहिए। जिस घर में उद्योग की तालीम नहीं, उस घर के लड़के हमारी आँखों के सामने घर को मिट्टी में मिला देंगे। वैसे ससार पहले ही दु खमय है। जिसने यहाँ सुख माना, उसके समान भ्रम में पड़ा और कौन होगा? समर्थ रामदास ने कहा है 'मूर्खामाजीं परम मूर्ख। जो या ससारीं मानी सुख॥' अर्थात् वह मूर्खों में भारी मूर्ख है, जो मानता है कि इस ससार में सुख है। जो मिलता है, दु ख की ही कहानी सुनाता है। मैंने तो कभी से यह समझ लिया है और बहुत विचार और अनुभव के बाद यह पक्का भी हो गया है। तो, ऐसे इस ससार को थोड़ा सा सुखमय बनाना हो, तो उद्योग के सिवा दूसरा इलाज नहीं है। सफाई करनी हो, तो उद्योगी वृत्ति चाहिए। आज सबके करने लायक और उपयोगी उद्योग सूत कताई का है। कपड़ा हरएक को जरूरी है और प्रत्येक बालक, स्त्री, पुरुष सूत कातकर अपना कपड़ा तैयार कर सकता है। चरखा हमारा मित्र बन जायगा, शांतिदाता हो जायगा, बशर्ते हम उस पर प्रेम करें। मन उदास होते ही चरखा हाथ में ले लें, तो फौरन समाधान मिलेगा। वजह यह

है कि मन उद्योग में लग जाता और दुःख बिसर जाता है। गेटे नामक कवि का एक काव्य है, उसमें उसने एक स्त्री का चित्र खींचा है। उसका चित्त अत्यन्त शोकाकुल था। चैन नहीं पड़ रहा था। अन्त में उसने तकली सँभाली। कवि ने दिखाया है कि उसे उस तकली से सान्त्वना मिली। मैं भी इसे मानता हूँ। उद्योग के बिना मनुष्य को कभी खाली नहीं बैठना चाहिए। किसीको नींद आती हो तो खुशी से सो जाय, इस पर मैं कुछ नहीं कहूँगा; लेकिन जाग उठने पर समय आलस्य में नहीं बिताना चाहिए।

दूसरी बात जिसकी मुझे धुन है, वह भक्तिमार्ग है। बचपन से ही मेरे मन पर यदि कोई संस्कार पड़ा है, तो वह भक्तिमार्ग का है। उस समय मुझे माता से शिक्षा मिली। आगे चलकर आश्रम में दोनों वक्त की प्रार्थना करने की आदत पड़ गयी। इसलिए मेरे अन्दर वह खूब मिद गयी। लेकिन भक्ति के मानी कर्मशून्यता नहीं है। हमें उद्योग छोड़कर झूठी भक्ति नहीं करनी है। दिनभर पवित्र उद्योग कर अन्त में शाम को और सुबह भगवान् का स्मरण करना चाहिए। दिनभर पाप कर या आलस में बिताकर प्रार्थना नहीं होती। वरन् सत्कर्म कर, दिन सेवा में बिताकर वह सेवा शाम को भगवान् को अर्पण करने के लिए प्रार्थना हो सकती है। हमारे हाथों अनजाने बन पड़े पापों को भगवान् क्षमा करता है। पाप बन पड़े, तो उसके लिए तीव्र पश्चात्ताप होना चाहिए। रोज १५ मिनट ही क्यों न हो, छोटे-बड़े सब इकट्ठे होकर निष्ठा से प्रार्थना करें। जिस दिन प्रार्थना न हो पाये, वह दिन व्यर्थ समझना चाहिए। भगवान् नारद से कहते हैं: "मैं वैकुंठ में न मिलूँ, एक बार योगियों के हृदय में न मिलूँ, सूर्य में न मिलूँ और कहीं भी न मिलूँ, तो भी जहाँ कीर्तन, नाम-घोष चल रहा है, वहाँ जरूर मिलूँगा।" लेकिन यह कीर्तन कर्म करने, उद्योग करने के बाद ही करने की चीज है। नहीं तो वह ढोंग हो जायगा। यही मेरा भक्तिमार्ग है।

एक और तीसरी बात की मुझे धुन है। वह है खूब सीखना और खूब सिखाना। जिसे जो आता है, वह उसे दूसरे को सिखाये और जो जो भी सीख सके, सीखे। कोई बूढ़ा हो तो वह भी सीखे। भजन, गीता-पाठ करे, गणित सीखे, कुछ-न कुछ जरूर सीखे और जो सिखा सके, अवश्य सिखाये। पाठशाला की तालीम पर मुझे विश्वास नहीं। पाँच-छह घंटे बच्चों को बिठा रखने से उनकी तालीम कभी नहीं होती। अनेक प्रकार के उद्योग चलने चाहिए और उनके साथ एक-आध घंटा सिखाना काफी है। मेरी माँ 'भक्तिमार्ग प्रदीप' पढ़ रही थी। उसे पढ़ना कम आता था, पर एक एक अक्षर जोड़कर पढ़ रही थी। एक दिन की बात है, १५ मिनट हो गये, उससे एक अभंग पूरा नहीं पढ़ा जा सका। मैं ऊपर छत पर बैठा था। आखिर नीचे आया और उसे वह अभंग सिखा दिया। फिर पढ़ाकर देखा, पन्द्रह-बीस मिनट में ही वह अभंग पूरा पढ़ गयी। उसके बाद रोज मैं उसे कुछ देर तक पढ़ाता रहा। आखिर उसकी वह पुस्तक पूरी हो गयी। इस प्रकार जो जो सिखाने लायक हो, वह सिखाते और सीखते भी रहना चाहिए।

ये तीन बातें मुझे बतानी थीं, सो आज बता दीं।

ग्राम सेवा वृत्त ५ २

गम्भीर अध्ययन

अध्ययन में लंबाई-चौड़ाई महत्त्व की नहीं, महत्त्व है गंभीरता का। बहुत देर तक, घंटों भाँति-भाँति के विषयों का अध्ययन करते रहने को मैं लंबा-चौड़ा अध्ययन कहता हूँ। समाधिस्थ होकर नित्य थोड़ी देर किसी एक निश्चित विषय के अध्ययन को मैं गम्भीर अध्ययन कहता हूँ। दस-बारह घंटे सोना, पर करवटें बदलते रहना या सपने देखते रहना—ऐसी नींद से विश्रान्ति नहीं मिलती। बल्कि पाँच-छह घंटे सोयें, किन्तु गाढ़ निद्रा हो, तो उतनी नींद से पूर्ण विश्रान्ति मिल सकती है। यही बात अध्ययन की भी है। समाधि अध्ययन का मुख्य तत्त्व है।

समाधियुक्त गम्भीर अध्ययन के बिना ज्ञान नहीं। लम्बा-चौड़ा अध्ययन बहुत कुछ फालतू ही होता है। उसमें शक्ति का अपव्यय होता है। अनेक विषयों पर गाड़ीभर पढ़ाई पढ़ते रहने से कुछ हाथ नहीं लगता। अध्ययन से प्रज्ञा स्वतन्त्र और प्रतिभावान् होनी चाहिए। प्रतिभा के माने हैं, बुद्धि में नयी-नयी कोंपलें फूटते रहना। नयी कल्पना, नया उत्साह, नयी खोज, नयी स्फूर्ति—ये सब प्रतिभा के लक्षण हैं। लम्बी-चौड़ी पढ़ाई के नीचे यह प्रतिभा दबकर मर जाती है।

वर्तमान जीवन में आवश्यक कर्म-योग का स्थान रखकर ही सारा अध्ययन करना चाहिए। अन्यथा भविष्य जीवन की आशा में वर्तमान में मरने जैसा प्रकार बन जाता है। शरीर कितने विश्वास की चीज है, यह प्रत्येक के अनुभव में आता ही है। भगवान् की हम सब पर अपार कृपा ही समझनी चाहिए कि हममें वह कुछ-न-कुछ कमी रख ही देता है। वह चाहता है कि यह कमी जानकर हम जाग्रत रहें।

दो बिन्दुओं से रेखा का निश्चय होता है। जीवन का मार्ग भी दो बिन्दुओं से ही निश्चित होता है। हम हैं कहाँ, यह पहला बिन्दु; हमें जाना कहाँ है, यह दूसरा बिन्दु। इन दोनों बिन्दुओं को तय कर लें, तो जीवन की दिशा तय हो गयी। इस दिशा पर ध्यान दिये बगैर इधर-उधर भटकते रहने से रास्ता तय नहीं हो पाता।

सारांश, 'अल्प मात्रा सातत्य, समाधि, कर्मावकाश और निश्चित दिशा' यह गंभीर अध्ययन का सूत्र है।

ग्राम-सेवा वृत्त, अगस्त १९४०

मनुष्य-जीवन व्यक्तिगत अनुभवों से बना हुआ है। उस अनुभव की बदौलत मनुष्य-समाज का काफी विकास हुआ है। किन्तु हिन्दू-धर्म ने उस अनुभव का शास्त्र रचकर एक विशिष्ट साधना जारी की, जिसे 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। अन्य धर्मों में भी संयम तो है ही; पर उसे शास्त्रीय रूप देकर हिन्दू-धर्म ने जिस प्रकार उसके लिए शब्द बनाया, वैसा शब्द अन्यत्र नहीं पाया जाता। पौधे की अवस्था में वृक्ष को अच्छी-से-अच्छी खाद की जरूरत होती है। यों तो पोषण जन्मभर चाहिए, पर कम-से-कम बचपन में तो वह सबको मिलना ही चाहिए। इस दृष्टि से हिन्दू-धर्म ने ब्रह्मचर्य-आश्रम को खड़ा किया। पर आज मैं उस आश्रम के सम्बन्ध में नहीं, ब्रह्मचर्य वस्तु के सम्बन्ध में कहनेवाला हूँ।

अपने अनुभव से मेरा यह मत स्थिर हुआ है कि यदि आजीवन ब्रह्मचर्य रखना है, तो ब्रह्मचर्य की कल्पना अभावात्मक (Negative) नहीं होनी चाहिए। विषय-सेवन मत करो, यह कहना अभावात्मक आज्ञा है; इससे काम नहीं बनता। सब इन्द्रियों की शक्ति को आत्मा में खर्च करो, ऐसी भावात्मक (Positive) आज्ञा की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य के संबंध में, यह मत करो, इतना कहकर काम नहीं बनता। यह करो, कहना चाहिए और इसीलिए 'ब्रह्मचर्य' शब्द की योजना की गयी है।

ब्रह्म अर्थात् कोई भी वृहत् कल्पना। कोई मनुष्य अपने बच्चे की सेवा उसे परमात्म-स्वरूप समझकर करता है, और चाहता है कि उसका लड़का सत्पुरुष निकले, तो वह पुत्र ही उसका ब्रह्म हो जाता

है। उस बच्चे के निमित्त उसका ब्रह्मचर्य-पालन आसान होगा। माता बच्चे के लिए रात-दिन कष्ट सहती है, फिर भी अनुभव करती है कि उसने बच्चे के लिए कुछ भी नहीं किया। कारण, बच्चे पर उसका जो प्रेम है, उसकी तुलना में स्वयं झेले हुए कष्ट उसे बहुत अल्प मालूम होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मचारी का जीवन तप से, संयम से ओत-प्रोत रहता है। पर उसके सामने रहनेवाली विशाल कल्पना के अनुपात में सारा संयम उसे अल्प ही जान पड़ता है। उसके बारे में 'इन्द्रिय-निग्रह मैं करता हूँ' ऐसा कर्तरि प्रयोग न रहकर 'इन्द्रिय-निग्रह किया जाता है' यह कर्मणि प्रयोग ही शेष रहता है। मान लीजिये, कोई व्यक्ति हिन्दुस्तान की दीन जनता की सेवा का ध्येय रखता है, तो वह सेवा उसका ब्रह्म है। उसके लिए वह जो करेगा, वह ब्रह्मचर्य है। संक्षेप में कहना हो तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालनेवाले की आँखों के सामने कोई विशाल कल्पना होनी चाहिए, तभी वह आसान होता है। ब्रह्मचर्य को मैं विशाल ध्येयवाद और तदर्थ संयमाचरण कहता हूँ। यह ब्रह्मचर्य के संबंध में मैंने मुख्य बात बतलायी।

दूसरी एक बात कहने को बच जाती है, वह यह कि जीवन की छोटी-छोटी बातों में भी नियमन की आवश्यकता है। खाना, पीना, बोलना, बैठना, सोना आदि सब विषयों में नियमन चाहिए। मनचाही चाल चलें और इन्द्रिय-निग्रह साधें, यह आशा व्यर्थ है। घड़े में तनिक-सा छेद हो, तो भी वह पानी रखने लायक नहीं रह जाता। उसी प्रकार चित्त की भी स्थिति है।

ग्राम-सेवा वृत्त ४-८

उद्योग में ज्ञान-दृष्टि

कल के अपने भाषण में मैंने जो कुछ कहा, वह आम जनता के लिए था। आज मेरे सामने मुख्यतः विद्यार्थी और शिक्षक हैं। उन्हींको लक्ष्य कर कहूँगा।

मेरी दृष्टि से हमारे शिक्षण में आज सबसे बड़ी जरूरत विज्ञान की है। हिन्दुस्तान का उद्धार सिर्फ खेती के भरोसे नहीं होगा। हिन्दुस्तान कृषिप्रधान देश कहलाता है और यूरोपीय राष्ट्र उद्योगप्रधान। हिन्दुस्तान में खेती ही मुख्य व्यवसाय होते हुए भी यहाँ प्रतिव्यक्ति सवा एकड़ जमीन है, जब कि फ्रान्स में वह प्रतिव्यक्ति साढ़े तीन एकड़ है; फिर भी वह देश उद्योगप्रधान कहलाता है। इसी पर से मालूम होगा कि हिन्दुस्तान की हालत कितनी बुरी है। इसका मतलब यह है कि हिन्दुस्तान में सिर्फ खेती ही होती है, और कुछ नहीं। अमेरिका (संयुक्तराज्य) संसार का सबसे धनी देश है। वहाँ खेती और उद्योग दोनों भरपूर चलते हैं। वह युद्ध के लिए रोज पचपन करोड़ रुपये खर्च कर रहा है। हमारे देश की जनसंख्या चालीस करोड़ है। इतने लोगों के भोजन पर यहाँ के हिसाब से प्रतिदिन पाँच करोड़ रुपये खर्च बैठेगा। अमेरिका इतना धनवान् देश है कि वह रोज युद्ध के लिए जितना खर्च करता है, उतने में हिन्दुस्तान को ग्यारह दिन भोजन दिया जा सकता है। हिन्दुस्तान की प्रतिव्यक्ति खेती से वार्षिक आय पचास-साठ रुपये और उद्योग से बारह रुपये है। इसलिए हिन्दुस्तान को कृषिप्रधान कहना पड़ता है। अब जरा इंग्लैण्ड की तरफ नजर डालिये। वहाँ भी खेती की आमदनी, यहीं की तरह प्रतिव्यक्ति पचास-साठ रुपये वार्षिक होती

है और उद्योग से पाँच सौ बारह रुपये। इस पर से देखिये कि हमारा देश कहाँ है।

यह हालत बदल देने के लिए हमारे यहाँ के विद्यार्थी, शिक्षक और जनता, सभी को उद्योग में कुशल होना चाहिए। उसके लिए उन्हें विज्ञान सीखना चाहिए।

(अ) हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला हो। वहाँ काम करनेवाले को किस खाद्य पदार्थ में कितना तापमान, कितना ओज, कितना स्नेह है आदि सारी बातों की जानकारी होनी चाहिए। उसे यह हिसाब लगाने आना चाहिए कि किस उम्र के मनुष्य को किस काम के लिए कैसे आहार की जरूरत होगी।

(आ) शौच को तो सभी जाते हैं। लेकिन स्कूलवालों का काम इतने से नहीं चलेगा। 'मैले का क्या उपयोग होता है? सूर्य की किरणों का उस पर क्या प्रभाव होता है? मैला यदि खुला पड़ा रहे, तो उससे क्या हानि है? कौन-सी बीमारियाँ फैलती हैं? जमीन को अगर उसकी खाद दी जाय, तो उसकी उर्वरता कितनी बढ़ती है?'— आदि सारी बातों का शास्त्रीय ज्ञान हमें प्राप्त करना चाहिए।

(इ) कोई लड़का बीमार हो जाता है। वह क्यों बीमार हुआ? बीमारी मुफ्त में थोड़े ही आयी है? तुमने उसे गिरह से कुछ खर्च करके बुलाया है। अतिथि की तरह उसका खयाल रखना होगा। वह क्यों आयी, कैसे आयी आदि पूछना होगा। उसकी समुचित पूजा और उपचार कैसे किया जाय, यह सीखना होगा। जब वह आ ही गयी, तो उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमें शिक्षण की बात है। 'यह ज्ञानदाता रोग आया और गया; हम कोरे-के-कोरे रह गये!' ऐसा दूसरों की तरह हमारा कदापि न हो।

(ई) आप यहाँ सूत कातते हैं, खादी भी बना लेते हैं। इसके लिए आपको बधाई! लेकिन खादी-विद्या के बारे में शास्त्रीय प्रश्नों

के उत्तर यदि आप न दे सके, तो पाठशाला और उत्पत्ति-केन्द्र यानी कारखाने में फर्क ही क्या रहा ? मैं तो अपने कारखाने से भी इस ज्ञान की अपेक्षा रखूँगा।

अभी-अभी मुझे बताया गया कि यहाँ के लड़के अंग्रेजी आदि की परीक्षा में पास होते हैं, दूसरे विद्यालयों के लड़कों से किसी तरह कम नहीं हैं, आदि-आदि। लेकिन लड़के पास होते हैं, इसमें कौन-सी बड़ी बात है। हमारे लड़के नालायक थोड़े ही हैं ? जरा विलायत के लड़कों को इतिहास और भूगोल मराठी मे सिखाकर देखिये तो ! देखें, कितने पास होते हैं। कई साल पहले बड़ौदे में एक साहब आया था। उसने गीता का पूरे बीस वर्ष तक अध्ययन किया था। यों उसने अच्छा भाषण दिया। परन्तु वह सस्कृत के वचनों के उच्चारण ठीक नहीं कर सका। उसने कहा :

'कुरु कम्मैव टस्माद् ट्वम्'

(कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्)

बीस बीस साल अध्ययन करने पर भी उनका यह हाल ! हमारे यहाँ सैकड़ों आदमी उनकी भाषा में अच्छा बोल लेते हैं। लेकिन यह हमारी इस भूमि का ही गुण है। हजारों वर्षों से यहाँ विद्या की उपासना होती आयी है। यह कोई यहाँ के शिक्षकों का गुण नहीं है। इसलिए हमें अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से सतोष नहीं मानना चाहिए। हमें आरोग्यशास्त्र, रसायनशास्त्र, पदार्थ विज्ञान, यन्त्रशास्त्र आदि शास्त्र सीखने चाहिए। शास्त्रों और विज्ञानों की इस तालिका को देखकर आप घबराइये नहीं, उन्हें उद्योग के साथ बड़ी आसानी से सीख सकेंगे।

दो विद्याएँ सीखना आवश्यक है : एक अपने आसपास की चीजों को परखने की शक्ति, अर्थात् विज्ञान। और दूसरी, आत्मज्ञानपूर्वक सयम करने की शक्ति; अर्थात् अध्यात्म। इसके लिए बीच में निमित्त-मात्र भाषा की जरूरत होती है। उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है।

भाषा चिट्ठीरसा का काम करती है। अगर मैं चिट्ठी में कुछ भी न लिखूं, तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसा पहुँचा देगा। भाषा विद्या का वाहन है। यह भी कोई उसकी कम कीमत नहीं है। विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है। उसीका मैं विचार करूँगा। अगर मेरा चरखा टूट गया, तो क्या मैं रोता बैठूँगा? बढ़ई के पास जाकर उसे सुधरवा लूँगा। इसी तरह, *अगर बिच्छू ने काट खाया, तो मुझे रोते नहीं बैठना* चाहिए। उसका उपचार कर छुट्टी पानी चाहिए। इसी प्रकार आत्मा की अलिप्तता का ज्ञान होना चाहिए। उसकी मुझे आदत हो जानी चाहिए। यही मेरी शाला की परीक्षा होगी। मैं भाषा का पर्चा बनाने की झंझट में नहीं पड़ूँगा। लड़कों की बोलचाल से ही उसका *भाषा ज्ञान भाँप जाऊँगा।*

विद्यार्थी भोजन करते हैं और दूसरे लोग भी भोजन करते हैं। लेकिन दोनों के भोजन करने में फर्क है। विद्यार्थियों का भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा, तो वह देखेगा कि उसमें से कितना चोकर निकलता है। मान लीजिये, सेर में आठ तोला चोकर निकला। यानी दस प्रतिशत चोकर निकला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पड़ोसी के यहाँ जाकर वहाँ का चोकर तौलेगा। उसे दीख पड़ेगा कि उसके आटे में से ढाई तोला ही चोकर निकला है। दस प्रतिशत चोकर निकलने में क्या हर्ज है? उतना अगर पेट में चला जाय, तो क्या नुकसान होगा?—आदि प्रश्न उसके मन में उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर भी उसे मिलने चाहिए। जब ऐसा होगा, तो जैसा कि गीता में कहा है, उसका हर-एक काम ज्ञान साधन होगा। अगर बुखार आया, तो वह ज्ञान सिखा जायगा। यह भी प्रयोग ही होगा। फिर उस तरह का बुखार नहीं आयेगा। जहाँ हरएक काम इस तरह ज्ञान-दृष्टि से किया जाता है, वह पाठशाला है और जहाँ वही ज्ञान कर्म-दृष्टि से होता है, वह कारखाना है।

इस प्रकार प्रयोग-बुद्धि से, ज्ञान-दृष्टि से प्रत्येक काम करने में थोड़ा खर्च तो पड़ेगा, लेकिन उससे उतनी कमाई भी होगी। स्कूल मे जो चरखा होगा, वह बढ़िया ही होगा। चाहे जैसे चरखे से काम नहीं चलेगा। स्कूल में काम चाहे थोड़ा कम भले ही हो, लेकिन जो कुछ होगा, वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमें जितने बिनौले निकलेंगे, वे भी तौल लिये जायँगे। रोजिया में से जब इतने बिनौले निकले, तो वेरम मे से इतने क्यों, इस तरह का सवाल पूछा जायगा और उसका जवाब भी दिया जायगा। बिनौला मटर के आकार का होकर भी दोनों के वजन मे इतना फर्क क्यों? बिनौले मे तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है। फिर यह देखा जायगा कि इसी तरह के दूसरे धान्य कौन-से हैं। इसके लिए तराजू की जरूरत होगी। वह बाजार से नहीं खरीदी जायगी, स्कूल में ही बनायी जायगी। जब हम यह सब करने का विचार करेंगे, तभी से विज्ञान शुरू हो जायगा। हरएक काम अगर इस ढग से किया जाय, तो वह कितना मनोरजक होगा? फिर भला उसे कौन भूलेगा? अकबर किस सन् मे मरा, यह रटने की क्या जरूरत है? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छाती पर क्यों सवार हुआ? मैं इतिहास रटने को नहीं पैदा हुआ हूँ। मैं तो इतिहास बनाने के लिए पैदा हुआ हूँ।

शिक्षक की दृष्टि से हरएक चीज ज्ञान देनेवाली है। उदाहरण के लिए मैले की ही बात ले लीजिये। वह बहुत बड़ा शिक्षण देता है। मैंने तो उसके बारे में एक श्लोक ही बना डाला है: 'प्रभाते मलदर्शनम्' (सबेरे मैले का दर्शन करो)। सबेरे मैले के दर्शन से मनुष्य को अपने स्वास्थ्य की स्थिति का पता चलता है। मैले में अगर मूँगफली के टुकड़े हों, तो वे पेट पर पिछले दिन किये गये अत्याचार तथा अपचन का ज्ञान और भान करायेंगे। उसके अनुसार हम अपने आहार-विहार में फर्क कर लेंगे। आप चाहे कितनी ही सावधानी और

सफाई से रहिये, आखिर मैला तो गंदा ही रहेगा। सबेरे उसके अवलोकन से देहासक्ति कम होगी और वैराग्य पैदा होगा। माँ जाड़ों में जिस तरह बच्चों को कपड़े से ढँकती है, उसका कोई भी अंग खुला नहीं रहने देती, उसी तरह हम भी बड़ी सावधानी से सूखी मिट्टी से अगर मैले को ढँक दें और यथासमय उसे खेत में फैला दें, तो यही मैला हमारी लक्ष्मी को बढ़ायेगा : 'आरोग्य-वैराग्य-सौभाग्यदात्।'

इसी तरह पाठशाला में प्रत्येक काम ज्ञानदायी और व्यवस्थित होगा। लड़का बैठेगा, तो सीधा बैठेगा। अगर मकान का मुख्य खंभा ही झुक जाय, तो क्या वह मकान खड़ा रह पायेगा? नहीं। इसी तरह हमें भी अपने मेरु-दण्ड को सदा सीधा रखना चाहिए। पाठशाला में यदि इस प्रकार काम होगा, तो देखते-देखते राष्ट्र की कायापलट हो जायगी। उसका दुःख-दैन्य गायब हो जायगा, सर्वत्र ज्ञान की प्रभा फैलेगी।

स्कूल में होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञान का साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्कूलों को सजाना होगा। अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होंगे। श्री रामदास स्वामी ने कहा है : 'देवाचें वैभव वाढवावें।' अर्थात् 'देवता का वैभव बढ़ाओ।' लोगों को अपने घर सजाने के बदले शालाएँ सजाने का शौक होना चाहिए। उन्हें शाला की सभी आवश्यक चीजें वहाँ उपलब्ध करा देनी चाहिए। लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। एकआध दान-वीर मिल जाता है और कहता है : 'मैंने इस शाला को इतनी सहायता दी।' लेकिन अपने लड़कों को किस स्कूल में भेजता है?—सरकारी स्कूल में। सो क्यों? अगर आप राष्ट्रीय पाठशालाओं को दान के योग्य मानते हैं, तो उन्हें सब तरह से सम्पन्न और सुशोभित कर अपने लड़कों को वहीं क्यों नहीं भेजते?

लड़के राष्ट्र के धन हैं। लेकिन उन के भोजन में न दूध है, न घी। प्रति लड़के का मासिक भोजन-खर्च ढाई रुपये है! इसे क्या कहा

जाय ? हम सारे राष्ट्र की अवस्था को भूल नहीं सकते, यह तो माना। फिर भी जितना कम-से-कम जरूरी है, उतना तो मिलना ही चाहिए। पिछले दिनों यह शिकायत थी कि जेल में कैदियों को उचित खुराक नहीं मिलती, दूध नहीं मिलता। गांधीजी की सूचना से बाहर के डॉक्टरों ने यह तय किया कि निरामिषभोजी व्यक्ति के लिए कम-से कम कितने दूध की जरूरत है। उनके निर्णय के अनुसार हरएक व्यक्ति को कम-से-कम ३० तोले दूध आवश्यक माना गया। सरकार अगर कैदियों को रखती है, तो उसे उनकी कम-से-कम आवश्यकता पूरी करनी ही चाहिए। लेकिन अगर हम अपने विद्यालयों में ही इस नियम पर अमल नहीं करते, तो सरकार से आशा करना कहाँ तक शोभा देगा ! लड़कों को दूध मिलना ही चाहिए। उन्हें अच्छा अन्न मिलना ही चाहिए। वरना उनमें तेज नहीं पैदा होगा।

मैंने कुछ बातें शिक्षकों के लिए, कुछ छात्रों के लिए और कुछ औरों के लिए कही हैं। ये सब मेरे अनुभव की बातें हैं। आशा है, इनका समुचित उपयोग होगा। *

ग्राम-सेवा वृत्त ६-१

---

* सुमसर की 'तिलक राष्ट्रीय शाला' के विद्यार्थियों और गाँव के युवकों की सभा में (१४ फरवरी, १९४१ को) किया गया प्रवचन।

साहित्य उलटी दिशा में : ६ :

पिछले दिनों एक बार हमने इस बात की खोज की थी कि देहात के साधारण पढ़े-लिखे लोगों के घर में कौन-सा मुद्रित वाङ्मय (छपा साहित्य) पाया जाता है। खोज के फलस्वरूप देखा गया कि कुल मिलाकर पाँच प्रकार का वाङ्मय पढ़ा जाता है :

(१) समाचारपत्र, (२) स्कूली किताबें, (३) उपन्यास, नाटक, गल्प, कहानियाँ आदि (४) भाषा में लिखे पौराणिक और धार्मिक ग्रन्थ और (५) वैद्यक-संबंधी पुस्तकें।

इससे यह अर्थ निकलता है कि हम यदि लोगों का मन सुधारना चाहते हैं, तो उक्त पाँच प्रकार के वाङ्मय को भी सुधारना चाहिए।

पिछले वर्ष की बात है। एक मित्र ने मुझसे कहा : "मराठी भाषा कितनी ऊँची उठ सकती है, यह ज्ञानदेव ने दिखाया और वह कितनी नीचे गिर सकती है, यह हमारे आज के समाचारपत्र बता रहे हैं!" (*साहित्य-सम्मेलन के*) अध्यक्ष की *आलोचना और हमारे मित्र* के उद्गार का अर्थ 'प्राधान्येन व्यपदेशः' सूत्र के अनुसार निकालना चाहिए। अर्थात् उनके कथन का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि सभी समाचारपत्र अक्षरशः प्रशान्त महासागर की तह तक जा पहुँचे हैं। मोटे हिसाब से परिस्थिति क्या है, इतना ही बोध उनके कथनों से लेना चाहिए। इस दृष्टि से दुःखपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि यह आलोचना यथार्थ है।

लेकिन इसमें दोष किसका है? कोई कहता है कि संपादकों का, कोई कहता है पाठकों का, तो कोई कहता है पूँजीपतियों का। इसमें तीनों ही शामिल हैं और 'कमाई का हिस्सा' तीनों को बराबर

मिलनेवाला है, इसमें किसीको कोई शक नहीं। परन्तु मेरे मत से— अपराधी ये तीनों भले ही हों—अपराध करवानेवाला दूसरा ही है, और वही इस पाप का वास्तविक 'धनी' है। वह कौन है? साहित्य की व्याख्या करनेवाला चटोर अथवा रुचिभ्रष्ट साहित्यकार।

ज्ञानदेव ने वाणी के ये ११ दोष बताये हैं: विरोधी विवाद का बल, दूसरों का जी जलाना, जली-कटी या तीखी बातें कहना, मखौल (उपहास), छल (व्यंग्य), मर्मभेद (मर्मस्पर्श), आड़ी-टेढ़ी सुनाना (वक्रोक्ति) कठोरता, पेचीदगी, संदिग्धता, प्रतारणा (कपट)— 'विरोधु वादु बलु। प्राणितापढाळू। उपहासु छलु। वर्मस्पर्शु॥ आटु वेगु विंदाणु। आशा शंका प्रतारणु।' परन्तु हमारे साहित्यकार तो ठीक उन्हीं अवगुणों को 'वाग्भूषा' या साहित्य की सजावट मानते हैं। पिछले दिनों एक बार रामदास की 'निठल्ले लोगों को विनोद भाता है', ('टवाळां आवडे विनोद') इस उक्ति पर कई साहित्यिक बड़े गरम हो गये थे। रामदास के आशय पर ध्यान देकर, उससे उचित उपदेश लेने के बदले, इन लोगों ने यह आविष्कार किया कि विनोद का जीवन और साहित्य में जो स्थान है, रामदास को वह समझा ही नहीं। उपहास, छल, मर्मस्पर्श आदि को ज्ञानदेव ने अमान्य किया, इसे भी हमारे साहित्यकार—अपनी साहित्य की परिभाषा के अनुसार—ज्ञानदेव का अज्ञान ही समझेंगे।

ज्ञानदेव या रामदास को राष्ट्र-कल्याण की लगन थी और हमारे विद्वानों को चटपटी भाषा की चिन्ता रहती है, चाहे उससे राष्ट्रघात ही क्यों न होता हो—यह इन दोनों में मुख्य फर्क है। हमारी साहित्य-निष्ठा ऐसी है कि सत्य भले ही मर जाय, साहित्य जीता रहे।

"हे प्रभो, अभी तक मुझे पूर्ण अनुभव नहीं होता है। तो क्या, मेरे देव! मैं केवल कवि ही बनकर रहूँ!"—इन शब्दों में तुकाराम ईश्वर से अपना दुखड़ा रोते हैं और ये (साहित्यकार) खोज रहे हैं कि तुकाराम के इस वचन में काव्य कहाँ तक सधा है! हमारी

पाठशालाओं की शिक्षा का सारा तरीका ही ऐसा है। मैंने एक निबन्ध पढ़ा था। उसमें लेखक ने तुलसीदास की शेक्सपियर से तुलना की थी और किसका स्वभाव-चित्रण किस दर्जे का है, इसकी चर्चा की थी। मतलब यह कि जो तुलसीदास की रामायण हिन्दुस्तान के करोड़ों *लोगों के लिए—देहातियों के लिए भी—जीवन की मार्ग-प्रदर्शक* पुस्तक है, उसका अध्ययन भी वह भला आदमी स्वभाव-चित्रण की शैली की दृष्टि से करेगा। शायद कुछ लोगों को मेरे कथन में कुछ अतिशयता प्रतीत हो, लेकिन मुझे तो कई बार ऐसा ही जान पड़ता है कि इन शैली-भक्तों ने राष्ट्र के शील की हत्या का उद्योग शुरू किया है।

शुकदेव का एक श्लोक है, जिसका भावार्थ है कि "जिससे जनता का चित्त शुद्ध होता है, वही उत्तम साहित्य है।" जो साहित्य-शास्त्रकार कहलाते हैं और जिनसे आज हम प्रभावित हैं, वे यह व्याख्या स्वीकार नहीं करते। उन्होंने तो शृंगार से लेकर बीभत्स तक विभिन्न *रस माने हैं और यह निश्चित किया है कि साहित्य वही है, जिसमें ये* रस हों। साहित्य की यह समूची व्याख्या स्वीकार कर लीजिये, उसमें कर्तव्य शून्यता मिला दीजिये, फिर कोई भी बतला दे कि आज के मराठी समाचार-पत्रों में जो पाया जाता है, उसके सिवा और किस *साहित्य का निर्माण हो सकता है?*

ग्राम-सेवा वृत्त ४-३

जेल में शाम की प्रार्थना में तुलसी-रामायण सुनाने का काम मेरे जिम्मे था। इस तरह रामायण का प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा परिचय होने लगा और अनायास उसकी खूबियाँ भी ध्यान में आने लगीं।

तुलसीदासजी ने यह ग्रन्थ सर्वसाधारण के लिए लिखा, यह तो उसकी रचना और परिणाम से स्पष्ट ही है। परन्तु जब मैं एक शिक्षक की नजर से उसे देखता हूँ, तो पाता हूँ कि उसमें छोटे बच्चों के लिए भी कई करामातें हैं। इनमें से एक का खुलासा मैं इस लेख में करना चाहता हूँ।

यद्यपि नागरी लिपि दूसरी लिपियों की अपेक्षा 'बालबोध' * (सरल) है, तथापि उसके संयुक्ताक्षर इतने सरल नहीं हैं। हम सबका अनुभव है कि वे बच्चों को काफी कष्ट देते हैं। इसीलिए आजकल बच्चों के लिए ऐसे पाठ लिखे जाने लगे हैं कि जिनमें संयुक्ताक्षर न हों। स्पष्ट है कि ये पाठ बच्चों के लिए प्रायः कृत्रिम और नीरस हो जाते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि तुलसीदासजी ने बच्चों के लिए बड़े स्वाभाविक और सरस ढंग से रामायण का बहुत-सा भाग बिना संयुक्ताक्षर के लिख रखा है।

इस बात की जाँच के लिए हम जरा गणित की सहायता लें। सबसे पहले अयोध्याकाण्ड का वह भाग लें, जहाँ कौसल्याजी राम को विदा देती हैं। 'कल्याण' का 'मानसाक' मेरे सामने है। उसके पृष्ठ ३६० से ३६२ पर यह प्रसंग है। उसका प्रारंभ 'धरि धीरजु सुत-बदनु निहारी' से है और अन्त है: 'बरनि न जाहिं बिलाप

* मराठी भाषा में नागरी को 'बालबोध' कहते हैं और अनेक मोड़ोंवाली मराठी घसीटी लिपि को 'मोड़ी'।

कलापा'। इसमें २७ चौपाइयाँ और ३ दोहे मिलकर कुल पद्य-संख्या ३० है। इनमें आये सयुक्ताक्षरों की तालिका इस प्रकार है :

पद्यांक	सयुक्ताक्षर	पद्यांक	सयुक्ताक्षर	पद्यांक	सयुक्ताक्षर
२	म्ह, म्ह, प्र	१९	म्ह, त्य	२४	म्ह
५	प्र	२०	म्ह	२५	प्र, म्ह
१३	न्ह	२१	प्र, प्र, प्र	३०	ष्य
१४	न्ह, प्र	२२	म्ह	×	×

इस अवतरण में कुल मिलाकर ७८४ अक्षर हैं। किन्तु इनमें सयुक्ताक्षरों का उपयोग केवल १९ बार किया गया है। इनका पृथकरण इस प्रकार है :

म्ह ७ बार, न्ह २ बार, प्र ८ बार, त्य १ बार; ष्य १ बार। इस प्रकार कुल ५ सयुक्ताक्षर कुल मिलाकर १९ बार आये हैं।

अब इस तालिका पर कुछ विचार करें। म्ह और न्ह प्रत्ययों के रूप मे हैं। इसलिए वे हिन्दी में असख्य बार आनेवाले अक्षर हैं। मैं तो समझता हूँ कि ये सयुक्ताक्षर न होकर मूलाक्षर जैसे ही हैं; क्योंकि हिन्दी भाषा की रूढ़ि के अनुसार म्ह और न्ह हकारयुक्त उच्चारित म और न के प्रकार हैं अथवा व्याकरण की भाषा में वे म और न के महाप्राणरूप हैं। 'जिनको' के उच्चारण का दूसरा महाप्राण-युक्त प्रकार 'जिन्हको' और 'तुमको' के उच्चारण का दूसरा प्रकार 'तुम्हको' केवल हिन्दी भाषा मे ही नहीं, बल्कि अन्य भाषाओं में मिलता है। इस प्रकार महाप्राण उच्चारण के उदाहरण मिलते हैं।

'प्र' सयुक्ताक्षर है सही, परन्तु चूँकि यह सस्कृत में असख्य बार आता है, इसलिए सस्कृत साहित्यकारों ने उसे भी मूलाक्षर-सा ही मान लिया है। कारण, सयुक्ताक्षर के पहले के अक्षर पर आघात होता है और वह गुरु माना जाता है। यह नियम 'प्र' के बारे में उन्होंने ढीला कर दिया है। अर्थात् 'प्र' के पहलेवाले अक्षर पर आप जोर चाहें दें या न भी दें, यह उनकी ओर से छूट है।

अतः हिन्दी भाषा की सुविधा के लिए म्ह और न्ह को और संस्कृत भाषा की सुविधा के लिए यदि प्र को छोड़ दिया जाय, तो उपर्युक्त अवतरण में केवल दो ही संयुक्ताक्षर आये हैं और वे भी केवल एक-एक बार। ७८४ अक्षरों में २ बार संयुक्ताक्षर का आना लगभग शून्य के बराबर ही है।

पद्यों की संख्या की दृष्टि से भी २० पद्यों में से, जिनमें एक बार ही क्यों न संयुक्ताक्षर आया हो, ऐसे पद्य २ हैं। अर्थात् ७ प्रतिशत।

अब ऐसा भाग लें, जिसमें वक्ता विद्वान् है और विषय भी तात्त्विक है। अब हम म्ह, न्ह और प्र को मूलाक्षर मानकर अथवा यदि संयुक्ताक्षर मान लें, तो भी मूलाक्षरों के साथ ही बच्चों को ये अक्षर सिखाने हैं, इस दृष्टि से संयुक्ताक्षरों का कितना प्रतिशत बैठता है, यह देखें। वाल्मीकि राम को भगवान् के निवास स्थान बता रहे हैं, अयोध्याकाण्ड का यह भाग लें। मानसांक के पृ० ४०८ से ४१२ पर वह है। प्रारंभ होता है: 'सहज सरल सुनि रघुबर बानी' से और अंत में है 'सो राउर निज गेह'। इस उद्धरण में ४२ चौपाइयाँ, ६ दोहे और १ छंद इस प्रकार कुल मिलाकर ४९ पद्य हैं। इनमें संयुक्ताक्षरयुक्त पद्य इस प्रकार हैं:

पद्यांक	संयुक्ताक्षर	पद्यांक	संयुक्ताक्षर	पद्यांक	संयुक्ताक्षर
१	म्य	२	श्र	३	श्र
४	ध्य	१७	श्र	२४	द्व
२४	त्र	३१	द्र	३४	स्य
३९	स्व, भ्र	×	×	×	×

इस प्रकार ४९ पद्यों में से केवल १० पद्यों में संयुक्ताक्षर आये हैं। अर्थात् विद्वानों के तात्त्विक भाषण में भी तुलसीदासजी ने बच्चों का ध्यान रखकर प्रतिशत ८० पद्यों में संयुक्ताक्षरों का उपयोग नहीं किया है। कितनी भारी कृपा है यह और शिक्षकों के लिए कितना बड़ा सबक!

छोटे बच्चों के लिए उनकी वर्णमाला यह है—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ अं; क ख ग घ; च छ ज झ; ट ठ ड ढ; त थ द ध न; प फ ब भ म; य र ल व; स ह, न्ह म्ह प्र—कुल मिलाकर ४३ वर्ण। इतने वर्ण सीख लीजिये और संयुक्ताक्षर न भी याद हों, तो भी ८० प्रतिशत रामायण मजे में पढ़िये।

इतनी लम्बी-चौड़ी और नीरस गिनती कर लेने के बाद तुलसीदासजी के सयुक्ताक्षर-विरहित थोड़े-से सरस प्रसाद का सेवन बगैर किये इस लेख का समाप्त करना उचित नहीं होगा :

'धरम न अरथ न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम-पद, यह बर-दानु न आन॥'

ग्राम-सेवा वृत्त ६-२ नागपुर जेल ३-४-'४१

गृत्समद   : ८ :

यह एक मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषि था। वर्तमान यवतमाल जिले के कलब गाँव का रहनेवाला था। गणपति का महान् भक्त था। 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' (हम आपका, जो कि समूहों के अधिपति हैं, आवाहन करते हैं) यह सुप्रसिद्ध मन्त्र इसीका देखा हुआ है। ऋग्वेद के दस मंडलों में से समूचा द्वितीय मंडल इसीके नाम पर है। इस मंडल में तैंतालीस सूक्त हैं और मन्त्र संख्या चार सौ से ऊपर है। ऋग्वेद जगत् का अतिप्राचीन और पहला ग्रन्थ माना जाता है। ऋग्वेद का भी कुछ अंश प्राचीनतर है। इस प्राचीनतर भाग में द्वितीय मंडल की गणना होती है। इस पर से इतिहासज्ञ इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि गृत्समद करीब बीस हजार वर्ष पहले हो गया है। गृत्समद का यह मंडल सूक्त-संख्या और मंत्र-संख्या की दृष्टि से ऋग्वेद का लगभग पचीसवाँ हिस्सा होगा।

गृत्समद हरफन मौला था। ज्ञानी, भक्त और कवि तो वह था ही, लेकिन गणितज्ञ, विज्ञान वेत्ता, कृषि-संशोधक और कुशल बुनकर भी था। जीवन के छोटे-बड़े किसी भी अंग की उपेक्षा वह सहन नहीं कर सकता था। वह हमेशा कहा करता. 'प्राये प्राये जिगीवांसः स्याम' —'हमें हरएक व्यवहार में विजयी होना चाहिए।' उसके ज्वलन्त उदाहरण के कारण आसपास रहनेवाले लोगों में उत्साह का जाग्रत वातावरण बना रहता।

गृत्समद के जमाने में नर्मदा से गोदावरी तक का सारा भू प्रदेश जंगलों से भरा था। बीस-पचीस मील पर एकआध छोटी-सी बस्ती होती थी। शेष सारा प्रदेश निर्जन! आसपास के निर्जन अरण्य में

बसी हुई गृत्समद की एकमात्र बड़ी बस्ती थी। इस बस्ती ने संसार का, कपास की खेती का, सबसे पहला सफल प्रयोग देखा। आज तो बरार कपास का भंडार बन गया है। गृत्समद के काल में बरार में आज की अपेक्षा बारिश का परिमाण ज्यादा था। उतना पानी सोख लेनेवाला कपास का पौधा गृत्समद ने तैयार किया और उसे एक छोटे से प्रयोग-क्षेत्र में लगाकर उससे दस सेर कपास प्राप्त किया। गृत्समद की इस नयी पैदावार को लोगों ने 'गार्त्समदम्' नाम दिया। *क्या इसीका ही लैटिन रूप 'गॉसिपियम्' हो सकता है ?*

उसकी बस्ती के लोग ऊन कातना-बुनना अच्छी तरह जानते थे। यह कार्य मुख्यतः स्त्रियों के सिपुर्द था। आज बुनने का काम पुरुष करते हैं और स्त्रियाँ कुकड़ी भरने, माड़ी लगाने आदि में उनकी मदद करती हैं। किन्तु वैदिक काल में बुनकरों का एक स्वतन्त्र वर्ग नहीं बना था। खेती की तरह बुनना भी सभी का काम था। उस युग की ऐसी व्यवस्था थी कि सारे पुरुष खेती करते थे और सारी स्त्रियाँ घर का काम-काज सँभालकर बुनाई करती थीं। 'शाम को सूर्य जब अपनी किरणें समेट लेता है, तब बुननेवाली भी अपना अधूरा बुना हुआ तागा समेट लेती है'—'पुनः समव्यत् विततं वयन्ती'—इन शब्दों में गृत्समद ने बुननेवाली के जीवन-काव्य का वर्णन किया है।

गृत्समद के प्रयोग के फलस्वरूप कपास तो मिल गयी, लेकिन 'कपड़ा कैसे बनाया जाय ?' यह महान् प्रश्न खड़ा हुआ। ऊन कातने की जो लकड़ी की तकली होती थी, उसी पर सबने मिलकर कपास का सूत कात लिया। यद्यपि बुनाई स्त्रियों के ही सिपुर्द थी, तो भी कातने का काम तो स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी किया करते थे। सूत तो निकला, लेकिन बिलकुल रद्दी। अब उसे कोई बुने भी कैसे ?

गृत्समद हिम्मत हारनेवाला व्यक्ति नहीं था। उसने खुद बुनना शुरू किया। बुनने की कला की सारी प्रक्रियाओं का सांगोपांग अभ्यास

किया। सारा सूत दोष-सम्पन्न पाया। लेकिन उसमें से जो थोड़ा मजबूत था, उससे उसने 'ततु' बनाया। 'ततु' के माने वैदिक भाषा में धागा है। बाकी बचे हुए कच्चे सूत को 'ओतु' कहकर रख लिया। लेकिन माडी लगाने में कटाकट-कटाकट तार टूटने लगे। गृत्समद गणितज्ञ होने के कारण टूटे हुए कितने तारों को जोड़ना पड़ा, इसका हिसाब भी करता था। पहली बार के माडी लगाने में टूटे हुए तारों की संख्या चार अंकों की (हजार की) थी। बाद में तागा करघे पर चढ़ाया गया। हत्थे की पहली चोट के साथ चार-पाँच तार टूटे। उन्हें जोड़कर फिर से ठोंका, फिर टूटा। इसी तरह कितने ही हफ्तों के बाद पहला थान बुना गया। उसके बाद सूत धीरे-धीरे सुधरता गया। फिर भी शुरू के बारह वर्षों में बुनाई का काम बड़ा ही कष्टकर रहा। गृत्समद की आयु के ये बारह वर्ष यथार्थ तपश्चर्या के वर्ष थे। वह इतना उत्साही और ततु-ब्रह्म, ओतु-ब्रह्म, ठोंक ब्रह्म और टूट-ब्रह्म की ब्रह्ममय वृत्ति से बुनाई का काम करनेवाला था, तो भी जब सूत लगातार टूटने लगते, तो वह भी कभी-कभी पस्त हिम्मत हो जाता। ऐसे ही एक अवसर पर उसने ईश्वर से प्रार्थना की थी : 'मा तन्तुश्छेदि वयतः'—'प्रभो, बुनते वक्त ततु टूटने न दे।' लेकिन ऐसी गलत प्रार्थना करने के लिए वह तुरन्त ही पछताया। इसलिए उस प्रार्थना में 'धियं मे' याने 'मेरा ध्यान' ये दो शब्द मिलाकर उसे सँवार लिया। 'जब मैं अपना ध्यान बुनता होऊँ, तो उसका ततु टूटने न दे'—ऐसा उस संशोधित और परिवर्धित प्रार्थना में से शोभनीय अर्थ निकला। उसका भावार्थ यह है कि "मेरा खादी का बुनना मेरी दृष्टि में केवल एक बाह्य क्रिया नहीं है। यह तो "मेरी उपासना है। वह ध्यानयोग है। बीच-बीच में धागों के टूटते रहने से मेरा ध्यान-योग भंग होने लगता है, इसका मुझे दुःख है। इसलिए यह इच्छा होती है कि धागे न टूटने चाहिए। लेकिन यह इच्छा उचित होते हुए भी प्रार्थना का विषय नहीं हो सकती। उसके लिए सूत सुधारना चाहिए और वह मैं सुधार दूँगा।

लेकिन जब तक सूत कच्चा रहेगा, तब तक वह टूटता तो रहेगा ही। इसलिए अब यही प्रार्थना है कि सूत के साथ-साथ मेरी अन्तर्वृत्ति का, मेरे ध्यान का, धागा न टूटे।"

गृत्समद अखण्ड अन्तर्मुख वृत्ति रखने का प्रयत्न करता हुआ भी प्रतिदिन कोई-न-कोई शरीर परिश्रमात्मक और उत्पादक कार्य करता ही रहता था। 'माऽहं अन्यकृतेन भोजम्'—'दूसरों के परिश्रम का उपभोग करना मेरे लिए उचित नहीं' यह उसका जीवन-सूत्र था। वह लोक-सेवा-परायण था। इसलिए उसके योग-क्षेम की चिन्ता लोग किया करते थे। लेकिन वह अपने मन में सदा यही चिन्तन किया करता कि 'लोगों से जितना मिलता है, क्या उसका सौगुना उन्हें लौटाता भी हूँ और उसमें भी क्या नवीन उत्पादन का कोई अंश होता है?'

मानो इसी चिन्तन के फलस्वरूप एक दिन उसे अचानक गुणाकार की कल्पना स्फुरित हुई। गणित-शास्त्र को लोक-व्यवहार-सुलभ बनाने की दृष्टि से व फुरसत के समय उसमें संशोधन करता रहता। तब तक लोग षड्विधियों में से सिर्फ जोड़ बाकी ये दो विधियाँ ही जानते थे। जिस दिन गृत्समद ने गुणन-विधि का आविष्कार किया, उस दिन उसके आनन्द की सीमा न रही। उसने दो से लेकर दस तक के नौ पहाड़े बनाये और फिर तो वह बाँसों उछलने लगा। पहाड़े रटनेवाले लड़कों को कहीं इस बात का पता लग जाय, तो वे गृत्समद को बिना पत्थर मारे नहीं रहेंगे। लेकिन गृत्समद ने आनन्द के आवेश में आकर इन्द्रदेव का आवाहन पहाड़ों से ही करना शुरू किया : "हे इन्द्र! तू दो घोड़ों के, चार घोड़ों के, छह घोड़ों के, आठ घोड़ों के और दस घोड़ों के रथ में बैठकर आ। जल्दी-से-जल्दी आ। इसके लिए तेरी मर्जी हो, तो दो के पहाड़े के बदले दस के पहाड़े से काम ले। दस घोड़ों के, बीस घोड़ों के, तीस घोड़ों के और चालीस घोड़ों के""और सौ घोड़ों के रथ में बैठकर आ।"

गृत्समद चौमुखी आविष्कारक था। पौराणिकों ने उसके इस महान् आविष्कार का लेखा किया है कि चन्द्रमा का गर्भ की वृद्धि पर विशेष परिणाम होता है। वैदिक मंत्रों में भी इसका संकेत मिलता है। चन्द्रमा में मातृवृत्ति रम गयी है। फिर कलावान् तो वह है ही, इसलिए सूर्य की ज्ञानमय प्रखर किरणों को पचाकर और उन्हें भावनामय सौम्य रूप देकर माता के हृदय में रहनेवाले कोमल गर्भ तक उस जीवनामृत को पहुँचाने का प्रेमल और कुशल कार्य चन्द्र कर सकता है और वह उसे निरन्तर करता रहता है—यह गृत्समद का आविष्कार है। आधुनिक विज्ञान ने अब तक इस विषय पर विशेष प्रकाश नहीं डाला है। परावृत्त-किरण-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान और मनोविज्ञान, तीनों का यहाँ मिलाप होने के कारण प्रश्न कुछ पेचीदा और सूक्ष्म है, इसमें शक नहीं। लेकिन गृत्समद का सिद्धान्त साधारण अविज्ञ मन को भी माने लायक तो है। बालक का सौम्य रूप यदि 'सोमकृत' हो, तो क्या आश्चर्य है ? जब हम सूर्यवंशी राम को भी 'रामचन्द्र' कहते हैं, तब चन्द्रमा की सत्ता ही सूचित करते हैं न ? कवियों ने चन्द्रामृत का पान करनेवाले एक चकोर पक्षी की कल्पना कर ली है। वह चकोर पक्षी अगर माता के उदर में रहनेवाला गर्भ साबित हो, तो भी कवि तो हरगिज नाराज नहीं होंगे। अपने अपने अल्प प्रकाश से टिमटिमानेवाले तारे भी अपनी जगह छोड़कर चन्द्र से मिलने कभी जानेवाले नहीं हैं। परन्तु चन्द्र विनम्र होकर प्रत्येक नक्षत्र से भेंट करने उसके घर जाता है। इतना बड़ा प्रेम-मूर्ति अगर गर्भस्थ बालक की चिन्ता नहीं करेगा, तो और कौन करेगा ? चन्द्र की कलाओं की पूर्णता पूर्णिमा को ही होती है। पूर्णिमा को उद्देश्य करके गृत्समद कहता है : 'हे पूर्णिमे, गर्भ के टाँके तू खूब मजबूत सूई से सी और सौगुना देनेवाला पराक्रमशील, प्रशसनीय सेवक निर्माण कर—'ददातु वीरं शतदायं उक्थ्यम्।'

यह एक अद्भुत प्रयोगकर्ता लगभग पच्चीस हजार वर्ष पहले हो गया है। यह कोंकणस्थों का मूल पुरुष है। माँ की ओर से क्षत्रिय और बाप की तरफ से ब्राह्मण! पिता की आज्ञा से इसने माँ का सिर ही उड़ा दिया। कोई भी पूछ सकता है कि 'यह कहाँ तक उचित है!' लेकिन उसकी श्रद्धा को सशंकता छू तक नहीं गयी थी। 'निष्ठा से प्रयोग करना और अनुभव से सयाना बनना' यह उसका सूत्र था।

परशुराम उस युग का सर्वोत्तम पुरुषार्थी पुरुष था। उसे दुःखियों के प्रति दया थी और अन्याय से तीव्रतम चिढ़। उस समय के क्षत्रिय बिल्कुल ही उन्मत्त हो गये थे। वे अपने को जनता का 'रक्षक' कहलवाते; लेकिन व्यवहार में तो उन्होंने कभी का 'र' को 'भ' में बदल दिया था। परशुराम ने उन अन्यायी क्षत्रियों का घोर प्रतीकार शुरू कर दिया। जितने क्षत्रिय उसके हाथ लगे, सबको उसने मार ही डाला। 'पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनाकर छोड़ूँगा', यह उसने अपना बिरद बना लिया था।

इसके लिए वह अपने पास हमेशा एक कुल्हाड़ी रखने लगा और उसने अपने ब्राह्मण अनुयायियों में भी यह उपासना जारी की कि उन्हें कुल्हाड़ी से रोज कम-से-कम एक क्षत्रिय का सिर उड़ाना ही चाहिए। पृथ्वी निःक्षत्रिय करने का यह प्रयोग उसने इक्कीस बार किया। लेकिन पुराने क्षत्रियों को जान-बूझकर खोज-खोजकर मारने और उनकी जगह अनजाने नये-नये क्षत्रियों का निर्माण करने की प्रक्रिया का परिणाम भला क्या हो सकता था? आखिर रामचन्द्रजी ने उसकी आँखों में अंजन डाला। तब से उसकी दृष्टि कुछ सुधरी।

फिर उसने उस समय के कोंकण के घने जंगल काटकर बस्तियाँ बसाने के रचनात्मक कार्य का उपक्रम किया। लेकिन उसके अनुयायियों को कुल्हाड़ी के हिंसक प्रयोग का चसका लग गया था। इसलिए उन्हें कुल्हाड़ी का अपेक्षाकृत अहिंसक प्रयोग फीका-सा लगने लगा। फलस्वरूप निर्धन को जिस प्रकार उसके सगे-संबंधी त्याग देते हैं, उसी प्रकार उसके अनुयायियों ने भी उसे छोड़ दिया।

लेकिन यह निष्ठावान् महापुरुष अकेला ही वह काम करता रहा। ऐच्छिक दरिद्रता का वरण करनेवाली आदिवासी (जंगली) जनता के आदि-सेवक भगवान् शंकर के ध्यान से वह नित-नयी स्फूर्ति पाने लगा और जंगल काटना, झोपड़ियाँ बनाना, वन्य पशुओं की तरह एकाकी जीवन बितानेवाले अपने मानव-बन्धुओं को सामुदायिक साधना सिखाना—इन उद्योगों में उसी स्फूर्ति से काम लेने लगा। निष्ठावंत और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नहीं रहने पाती। परशुराम की अदम्य सेवा-वृत्ति देख कोंकण के जंगलों के वे वन्य निवासी पिघल गये और आखिर उन्होंने उसका अच्छा साथ दिया। ब्राह्मण कहलाने-वाले उसके पुराने अनुयायियों ने तो उसका साथ छोड़ शहरों की पनाह ली; किन्तु उनके बदले ये नये अवर्ण अनुयायी उसे मिले। उसने उन्हें स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चार की शिक्षा दी। एक दिन परशुराम ने उनसे कहा: "भाइयो, आज से तुम लोग ब्राह्मण हो गये!"

राम और परशुराम की पहली भेट धनुर्भंग-प्रसंग के बाद एक बार हुई थी। उसी वक्त उसे रामचन्द्रजी से जीवन-दृष्टि मिली थी। उसके बाद इतने वर्षों के बीच दोनों की भेट कभी नहीं हुई थी। लेकिन अपने वनवास के दिनों में रामचन्द्र पंचवटी में आकर रहे थे। उनके वहाँ के निवास के आखिरी वर्ष में बागलाण की तरफ से परशुराम उनसे मिलने आया था। जब वह पंचवटी के आश्रम में पहुँचा, तो रामचन्द्र

पौधों को पानी दे रहे थे। परशुराम से मिलकर रामचन्द्र को बड़ा ही आनंद हुआ। उन्होंने उस तपस्वी और वृद्ध पुरुष का सादर साष्टांग प्रणाम-पूर्वक स्वागत किया और कुशल-प्रश्नादि के बाद उसके कार्यक्रम के बारे में पूछा। परशुराम ने कुल्हाड़ी के अपने नये प्रयोग का सारा हाल रामचन्द्र को सुनाया। यह सुन रामचन्द्र ने उसका बड़ा गौरव किया। दूसरे दिन परशुराम वहाँ से लौटा।

अपने मुकाम पर वापस आते ही उसने उन नये ब्राह्मणों को राम का सारा हाल सुनाया और कहा : "रामचन्द्र मेरे गुरु हैं। अपनी पहली ही भेंट में उन्होंने मुझे जो उपदेश दिया, उससे मेरी वृत्ति पलट गयी और मैं तुम लोगों की सेवा करने लगा। इस बार की मुलाकात में उन्होंने मुझे शब्दों द्वारा कोई भी उपदेश नहीं दिया। लेकिन उनकी कृति में से मुझे उपदेश मिला है। वही मैं तुम लोगों को सुनाता हूँ। हम लोग जंगल काट-काटकर बस्ती बसाने का यह जो कार्य कर रहे हैं, वह निःसन्देह उपयोगी कार्य है। लेकिन उसकी भी मर्यादा है। उस मर्यादा को न जानकर हम अगर पेड़ काटते ही रहेंगे, तो वह एक बड़ी भारी हिंसा होगी। और कोई भी हिंसा अपने कर्ता पर उलटे बिना नहीं रहती, यह मेरा अपना अनुभव है। इसलिए अब हम पेड़ काटने का काम खतम करें। आज तक जितना कुछ किया, सो ठीक ही किया; क्योंकि उसीकी बदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था, वह अब 'सह्याद्रि' बन गया है। लेकिन अब हमें जीवनोपयोगी वृक्षों के रक्षण का काम भी अपने हाथ में लेना चाहिए।"

यह कहकर उसने उन्हें आम, केले, नारियल, काजू, कटहल, अननास आदि छोटे-बड़े फल के वृक्षों के संगोपन की विधि सिखायी। उसे इसके लिए स्वयं वनस्पति-संवर्धन शास्त्र का अध्ययन करना पड़ा और उसने अपने सदैव के उत्साह से उस शास्त्र का अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्र में कई महत्त्वपूर्ण शोध भी किये। पेड़ों को सुन्दर

आकार देने के लिए उन्हें व्यवस्थित काटने-छाँटने की जरूरत महसूस कर उसने उसके लिए छोटे से औजार का आविष्कार किया। इस औजार को 'नव-परशु' का नाम देकर परशु-उपासना अखंड जारी रखी।

एक बार उसने समुद्र-तट पर नारियल के पेड़ लगाने का एक सामुदायिक समारोह सम्पन्न किया। उस अवसर से लाभ उठाकर उसने वहाँ आये हुए लोगों के सामने अपने जीवन के सारे प्रयोगों और अनुभवों का सार उपस्थित किया। सामने पूरे ज्वार में समुद्र गरज रहा था। उसकी ओर इशारा कर समुद्रवत् गंभीर ध्वनि में उसने बोलना आरंभ किया :

"भाइयो, यह समुद्र हमें क्या सिखा रहा है, इस पर ध्यान दीजिये। इतना प्रचंड शक्तिशाली है यह! फिर भी अपने चरम उत्कर्ष के समय भी वह अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। इसलिए उसकी शक्ति सदैव ज्यों-की-त्यों रही है। मैंने अपने सारे उद्योगों और प्रयोगों में से यही निष्कर्ष निकाला है। छुटपन में मैंने पिता की आज्ञा से अपनी माता की हत्या की। लोग कहने लगे, 'कैसा मातृ-हत्यारा है!' मैं उस आक्षेप को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। मैं कहा करता, 'आत्मा अमर है और शरीर मिथ्या है। कौन किसे मारता है? मैं मातृ-हत्यारा नहीं, प्रत्युत पितृभक्त हूँ।'

"लेकिन आज मैं अपनी गलती महसूस करता हूँ। मातृवध का आरोप मुझे उस समय स्वीकार नहीं था और आज भी नहीं है। लेकिन मेरे ध्यान में यह बात नहीं आयी थी कि पितृभक्ति की भी मर्यादा होती है। यही मेरा वास्तविक दोष था। लोग अगर अचूक उतना ही दोष बताते, तो उससे मेरी विचार-शुद्धि हुई होती। लेकिन उन्होंने भी मर्यादा का अतिक्रमण कर मुझ पर आक्षेप किया और उससे मेरी विचार-शुद्धि में कोई सहायता नहीं पहुँची।

"बाद में वश होने पर अन्याय के प्रतीकार का व्रत लेकर मैं अत्याचारी सत्ता से इक्कीस बार लड़ा। हर बार पहले लगता कि मैं सफल हो गया, पर अन्त में प्रत्येक बार मुझे निश्चित असफलता ही हाथ लगी। रामचन्द्र ने मेरी गलती मुझे समझा दी।

"अवश्य ही अन्याय-प्रतीकार मनुष्य का धर्म है; लेकिन उसकी भी एक शास्त्रीय मर्यादा है, यह ज्ञान मुझे गुरु-कृपा की बदौलत प्राप्त हुआ।

"इसके उपरांत मैं जंगल काटकर मानव-उपनिवेश बसाने के, मानव-सेवा के कार्य में जुट गया; लेकिन जंगल काटने की भी एक हद होती है, इस बात का ज्ञान मुझे ठीक समय पर कैसे हुआ, यह आप जानते ही हैं।

"अब तक मैं निरंतर प्रवृत्ति का ही आचरण करता रहा, पर आखिर प्रवृत्ति की भी मर्यादा तो है ही न ! इसलिए अब मैं निवृत्त होने की सोच रहा हूँ। इसके मानी यह नहीं कि मैं कर्म ही त्याग दूँगा। स्वतन्त्र नयी प्रवृत्ति का आरंभ अब नहीं करूँगा। प्रवाह-पतित-सा कार्य करता रहूँगा। प्रसंगवश आप पूछेंगे, तो सलाह भी देता रहूँगा।

"इसीलिए मैंने आज जान-बूझकर इस समारोह का आयोजन किया और अपनी यह 'समुद्रोपनिषत्' या 'जीवनोपनिषत्', चाहे जो कह लीजिये, आपसे निवेदन कर दी। पुनः संक्षेप में कहता हूँ; पितृ-भक्ति की मर्यादा, प्रतीकार की मर्यादा, मानव-सेवा की मर्यादा—सारांश, सभी प्रवृत्तियों की मर्यादा—यही मेरा जीवन-सार है। आओ, एक बार सब मिलकर कहें, 'ॐ नमो भगवत्यै मर्यादायै'।"

इतना कहकर परशुराम शांत हो गया। उसके उपदेश की यह गंभीर प्रतिध्वनि सह्याद्रि की खोह-कंदराओं में आज भी गूँजती सुनाई देती है।

ग्राम-सेवा वृत्त ५-४

स्व० जमनालालजी को श्रद्धाञ्जलि : १० :

मेरे प्रियतम बन्धुओ और बहनो !

कल सायंकाल ४ बजे महिलाश्रम में मेरे व्याख्यान का आयोजन किया गया था। व्याख्यान के लिए मैं वहाँ जा पहुँचा। लड़कियाँ आकर अपनी-अपनी जगह पर बैठ गयीं और मैं भाषण शुरू करने ही जा रहा था कि एक मोटर आ पहुँची। आये हुए व्यक्ति ने बताया कि "जमनालालजी बीमार हैं और आपको बुलाया है।" वैसे जमनालालजी चिन्ताजनक बीमार न थे। दोपहर तक सदैव की तरह वे अपना काम करते रहे, यह मैं जानता रहा। इसलिए उनकी बीमारी का समाचार सुनकर भी मैं उसका गहरा अर्थ समझ नहीं पाया; फिर भी व्याख्यान छोड़कर गांधीचौक में आ पहुँचा।

मोटर से बाहर निकला, तो दिलीप छत पर से उतर रहा था। उसके चेहरे पर दुःख दीख पड़ने पर भी मुझे पूरी कल्पना नहीं हो पायी और मैंने उससे पूछा: "जमनालालजी की तबीयत कैसी है?" इस पर उसने कहा: "वे तो चल बसे।" इतनी अचानक, अनपेक्षित और चित्त को क्लेश पहुँचानेवाली खबर सुनकर मुझे क्या मालूम पड़ना चाहिए, यह आप समझ सकते हैं। लेकिन मुझे तो बिल्कुल विलक्षण और अलग ही अनुभव हुआ। निश्चय ही वह खबर क्लेशदायक थी, लेकिन उसे सुनकर मेरे अन्तर में कुछ एक विशेष प्रकार के आनन्द का आभास हुआ और उस आनन्द की अवस्था में ही मैं ऊपर उस कमरे में पहुँचा, जहाँ उनका शव पड़ा था।

वहाँ बैठे लोगों के चेहरे पर जब मैंने दुःख की स्पष्ट छाया देखी, तब ऐसा भास हुआ कि कोई ऐसी घटना हुई है, जिसके कारण बहुतों

को दुःख हो सकता है। फिर भी मुझे कबूल करना होगा कि मुझे अन्दर से जिस आनन्द का अनुभव हो रहा था, वह कुछ भी कम नहीं हुआ। आखिर शाम को शव जलाने के बाद जब ईशोपनिषद् और गीताई के श्लोक कहने लगा, तब तो उस आनन्द का ठिकाना ही न रहा। मेरी यह स्थिति रात में सोने तक वैसी ही बनी रही।

सुबह उठने के बाद जमनालालजी की मृत्यु से कितनी क्षति हुई है और हम लोगों की जिम्मेदारी कितनी बढ़ गयी है, इसका धीरे-धीरे भान होने लगा। आगे का सारा प्रकार क्या हुआ होगा, यह आप लोग समझ सकते हैं। लेकिन मुझे यह आनन्द का अनुभव क्योंकर हुआ, यह बताना जरूरी है।

जमनालालजी ने गो-सेवा का काम अपने हाथों में लिया है, यह समाचार मुझे जेल में ही मिल गया था। उसे सुनकर मुझे समाधान हुआ। यह उपयोगी काम उन्होंने अपने हाथों में ले लिया, इससे देश का भला तो होगा ही; परन्तु मुझे लगा कि इससे उनको भी शांति मिलेगी। किन्तु उसके साथ ही मैं यह भी देख रहा था कि उनके थके हुए शरीर के लिए यह काम भारी पड़ेगा। मेरे जेल से छूटने पर पहली ही मुलाकात में उन्होंने मुझसे यही पूछा कि "मैंने गोसेवा-संघ का काम हाथ में ले लिया, इस बारे में आपकी क्या राय है?" मैंने उनसे कहा कि "यह समाचार सुनकर मेरे चित्त को बड़ा समाधान हुआ।" मेरे ये शब्द सुनते ही उनकी आँखें भर आयीं। प्रेमभाव उत्पन्न करनेवाला और आत्मा की उन्नति में साधनरूप यह काम मिल जाने के कारण उनके चित्त में अत्यन्त समाधान दीख रहा था। और वे इस काम को सदैव से अधिक एकाग्रता और तत्परता से कर रहे थे। शरीरान्त के समय उनका मन जिस उन्नत अवस्था को पहुँच गया था, वह पिछले बीस वर्षों के प्रयत्नों से भी उन्हें प्राप्त नहीं हो पायी थी। इन गत बीस वर्षों से लगातार अपने मन का परीक्षण करते रहने पर भी जो

उन्नत अवस्था वे प्राप्त नहीं कर सके, वह इन दो-तीन महीनों में उन्होंने बड़ी तेजी से प्राप्त कर ली। प्रारम्भ से उनसे निकट परिचय होने के कारण मैं इस चीज को देख सकता था। ऐसी उन्नत अवस्था में मरण पाना बड़े आनंद की बात है। मौत तो सबकी होती है। पर मौत-मौत में भी अन्तर होता है। ठेठ अन्त तक काम करते-करते, किसीसे सेवा न लेते और मन की ऐसी उन्नत अवस्था में शरीर का अंत होना बड़े भाग्य की बात है। इससे अच्छा जीवन का अन्त और कौन-सा हो सकता है! यही सब सोचकर मुझे आनन्द हो रहा था। यह प्रसंग भले ही शोक का मालूम पड़े, परन्तु इसमें भी जो आनन्द का पहलू था, वह मैंने आपके सामने पेश किया। मुझे लगता है, ऐसा ही मरण भगवान् से माँगा जाय और इसी हेतु तथा इसी दिशा से हमारा सारा प्रयत्न चले।

रामायण में तुलसीदासजी ने एक प्रसंग का वर्णन किया है। बाली और सुग्रीव के युद्ध में श्रीराम ने बाली को एक बाण मारा। उससे बाली घायल हो नीचे गिर पड़ा। उस समय उन दोनों के बीच संवाद हुआ है। बाण मारने पर बाली ने राम को उलहना दिया। तब राम ने कहा : "मेरे प्यारे पुत्र, मैंने तुझे यह बाण नहीं मारा, बल्कि तुझ पर प्रेम किया है। यदि तेरी इच्छा हो, तो मैं तुझे बचाकर जीवित भी रख सकता हूँ। जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर सकता हूँ।" तब बाली ने कहा : "भगवन्, आज आपके प्रत्यक्ष दर्शनों का लाभ मुझे मिल गया है। ऐसे पवित्र अवसर पर मृत्यु आ रही है। इसे छोड़कर यदि मैं आपसे जीवन-दान माँग लूँ, तो क्या ठिकाना कि जब फिर मृत्यु का क्षण आये, तब यह लाभ मिल सकेगा। इसलिए इसी समय मृत्यु आ जाय, यही अच्छा है। मैं जीवित रहना नहीं चाहता।" यह कहकर बाली मुक्त हो गया और राम की ज्योति में जा मिला, ऐसा चित्र और चरित्र रामायण में वर्णित है। इसका सार यह कि चित्त का

शोधन करते करते उन्नत अवस्था प्राप्त कर उसी अवस्था में मरना चाहिए। मैं जानता हूँ कि जमनालालजी को ऐसी मृत्यु का लाभ हुआ है। इसलिए यह दुःख की नहीं, आनंद की बात है। हमें उस पर ईर्ष्या होनी चाहिए।

हम लोग उनके अनेक गुणों का वर्णन कर सकते हैं। परन्तु उनका सबसे बड़ा गुण यह था कि सेवा के अनेक काम करते हुए हिसाबी-किताबी आदमी होने के कारण वे यह हिसाब तो लगाते ही रहते थे कि सेवा कितनी हुई। फिर भी इस सेवा का उनका अपना मुख्य माप अलग ही था। वे यह देखते रहते कि इस सेवा द्वारा मेरे मन की अशुद्धि कम हो रही है न? सच्ची सेवा वे उसीको मानते थे, जिससे चित्त की शुद्धि हो। इसमें जितनी कमी रह जाती, उसे वे उतने अंशों में अधूरी सेवा समझते और जिस सेवा का इस दिशा में कोई लाभ नहीं दीखता, उसे वे खोटी, झूठी सेवा कहते। हर सेवा को वे चित्त-शुद्धि की कसौटी पर कसते। यही सेवा की उनकी सच्ची कसौटी थी। चित्त शुद्धि की इस अवस्था में जिस पुरुष ने अपने शरीर का त्याग किया, वह कहीं गया ही नहीं। वह छोटी देह को छोड़कर समाज की व्यापक देह में प्रविष्ट हो गया, ऐसा कई बार होता है। देह आत्मा के विकास के लिए ही है। परन्तु जिनकी आत्मा उन्नत होती है, उनको इस देह में अधिक विकास की गुंजाइश नहीं रह जाती। वह इतनी विशाल हो जाती है कि यह देह उसके लिए छोटी पड़ जाती है। तब ऐसी आत्माएँ इस देह को छोड़कर देहरहित अवस्था में अधिक सेवा करती हैं। यही स्थिति जमनालालजी की हुई है। कम से-कम मैं तो देखता हूँ कि मानो उन्होंने मेरे-आपके अन्दर प्रवेश कर लिया है। यह जीवित मृत्यु है। मृत्यु भी जीवित हो सकती है और जीवन भी मृत हो सकता है। जीवित मृत्यु बहुत कम लोगों की होती है। जमनालालजी की मृत्यु ऐसी ही है। इसका परिणाम हम-आप पर अवश्य होगा। परन्तु इस परिणाम के लिए हमें अपने दिलों को खुला रखना चाहिए।

इस परिणाम का एक छोटा-सा उदाहरण मैं आपको सुनाऊँ। जमनालालजी की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी को यह संकल्प करने की प्रेरणा हुई कि वे अपना जीवन राष्ट्र की सेवा में अर्पित कर दें। उन्होंने अपनी निजी संपत्ति राष्ट्र को देने का निश्चय किया। जानकीबाई कोई बड़ी पढ़ी लिखी महिला नहीं हैं। यह भी नहीं कि अपने विकास का कोई स्वतंत्र साधन या अवसर उन्हें मिला था। तब इसका अर्थ यह है कि यह परिणाम जमनालालजी की मृत्यु का हुआ। देह के रहते आत्मा का जो असर नहीं होता, वह बाद में कैसे हो सकता है, इसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है। और भी उदाहरण मिल सकते हैं; क्योंकि महान् आत्माएँ देह छूटने पर ही बलवान् बनती हैं। संतों के उदाहरण हम देखते ही हैं। जब वे जीवित होते हैं, तब लोग उनका कोई मूल्य नहीं आँकते, बल्कि उनको सताते रहते हैं। किन्तु देह छूट जाने पर देह से बाहर रहकर समाज के चित्त पर वे बहुत बड़ा असर डाल सके हैं। ऐसे ही लोगों की पंक्ति में जमनालालजी का छोटे रूप में सही, पर स्थान है, इसलिए उन्होंने जितने जोरों से काम किया है, उससे अधिक जोर से काम करने की शक्ति परमात्मा की कृपा से हमें मिल सकती है। उसे ग्रहण करने के लिए हमारा चित्त खुला रहे, यह प्रार्थना कर श्रद्धा का यह भाषण समाप्त करता हूँ।

—श्री जमनालालजी बजाज के स्वर्गवास पर
१२-२-'४२ को वर्धा के गांधी-चौक में
दिया हुआ व्याख्यान।

आज मैं जो कहना चाहता हूँ, उसे कहने के पहले थोड़ी-सी प्रस्तावना करनी होगी। एक मित्र की चिट्ठी आयी है। वे लिखते हैं : "कृपया हिंदी में बोलें।" इसमें से 'कृपया' शब्दों को मैं स्वीकार करता हूँ। याने 'कृपया' मराठी में बोलनेवाला हूँ। नागपुर-जेल में हमारी चर्चा और व्याख्यान सदैव हिंदी में ही होते थे। वहाँ जो सत्याग्रही थे, उनमें से अधिकाश हिंदी जानते थे। मराठी जाननेवाले थोड़े ही थे। इसलिए उनसे हिंदी में ही बातें और चर्चा हुआ करती थी। इस प्रकार हिंदी के द्वारा हमें एक-दूसरों के विचार ज्ञात हुए और सहवास में आनन्द मालूम हुआ। फलतः अब मुझे व्याख्यान देने लायक हिंदी का अभ्यास हो गया है।

लेकिन यहाँ मराठी में बोलने में मेरी तत्त्व दृष्टि है। हमारी अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी, हिन्दुस्तानी या उर्दू जो है, उसे सबको अवश्य सीखना चाहिए। लेकिन साथ ही यह भी जरूरी है कि जो लोग दूसरे प्रांतों में जाकर रहते हैं, वे उन प्रांतों की भाषाएँ भी समझने और बोलने लायक सीखें। अन्यथा राष्ट्र का एकीकरण नहीं हो पायेगा। मेल दोनों तरफ से हुआ करता है। विभिन्न प्रांतीय भाषाभाषियों को राष्ट्रभाषा सीखनी चाहिए और हरएक प्रांत में रहनेवाले अन्य प्रांतियों को स्वदेशी धर्म के अनुसार उस प्रांत की भाषा अवश्य सीखनी चाहिए। यह तत्त्व-दृष्टि आप लोगों को उपलब्ध कराने की कृपा कर अर्थात् 'कृपया' मैं मराठी में बोलनेवाला हूँ।

विद्यार्थियों के लिए हाल ही में मेरा एक व्याख्यान हो चुका है। मैं मान लेता हूँ कि आप लोगों में से अधिकतर लोगों ने वह सुना

होगा। उस व्याख्यान में मैंने एक विचार पेश किया था। वह विचार में सब जगह उसी भाषा में पेश किया करता हूँ। कारण मेरे दिल में वह उसी भाषा में जम गया है। वह विचार यह कि संपूर्ण स्वतंत्रता पर अगर किसीका अबाधित और निरंकुश अधिकार हो सकता है, तो विद्यार्थियों का। दूसरों के लिए बंधन होते हैं और वे उचित भी होते हैं। परन्तु विद्यार्थी को कोई भी बंधन नहीं होना चाहिए। इस अधिकार का अमल अगर अब तक शुरू न किया हो, तो आज ही शुरू करें।

विद्यार्थी एक हैसियत है। उस हैसियत को लक्ष्य करके मैं बोल रहा हूँ। विद्यार्थी व्यक्ति की दृष्टि से नहीं। एक व्यक्ति के नाते उसे अनेक बंधन होना संभव है। लेकिन विद्या या सत्य का शोध करते समय विद्यार्थी को मुक्त रहना चाहिए। अमुक विद्या इसलिए ग्राह्य नहीं है कि उसे अमुक महात्मा, गुरु या संत सिखाता है। 'यह संत-वाणी है, यह हमारे पंथ की वाणी है, इसलिए प्रमाण है', इस तरह का बोझ ज्ञानार्जन या विचार बनाने के विषय में उस पर नहीं होना चाहिए। विद्यार्थी-व्यक्ति पर पुत्र, मित्र, शिष्य या दूसरी हैसियत से अनेक बंधन लागू हो सकते हैं। पर विद्यार्थी के नाते संपूर्ण स्वातन्त्र्य यही आपका अधिकार है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, सर्वथा मूलभूत अधिकार है। इस मौलिक अधिकार की अगर आप लोग अवहेलना करेंगे या अवहेलना होने देंगे, तो सच्ची विद्या प्राप्त होने की आशा नहीं रहेगी।

आजकल सभ्य कहे जानेवाले राष्ट्रों में इतिहास, संस्कृति, व्यापार, भूगोल आदि सिखाने के बहाने विद्यार्थियों का यह अमूल्य अधिकार छीन लिया गया है। गणेशजी की मूर्ति बनानेवाला आज का शौकीन मूर्तिकार यह भूल जाता है कि 'गणपति' नामक एक तत्त्व है और मिट्टी को मनमाना आकार दे देता है। वे समझते हैं कि गणपति की प्रतिमा बनाना हमारे हाथ की बात है। इसलिए उसे अपनी मर्जी का

आकार दे देते हैं। कोई उनके हाथ में त्रिशूल और बल्लम दे देते हैं, कोई चरखा देते हैं, तो कोई उसे सिगरेट का भी चसका लगा देते हैं। इस तरह बेचारे गणेशजी की मिट्टीपलीद की जाती है। यही हाल विद्यार्थियों का चल रहा है। सयाने विद्यार्थी इसके लिए तैयार नहीं थे। आज भी न होंगे। आप लोगों को ऐसी दुर्दशा सहने के लिए हरगिज तैयार नहीं होना चाहिए। 'विद्यार्थी को कौन-सी विद्या सिखायी जाय, कौन-से-ढाँचे मे ढाला जाय', यह सब सरकार तय करती है। विचार और गुणों का नियमण तथा नियमन सरकार करती है। सरकार को जो विकार और विचार अभीष्ट जान पड़ते हैं, उन्हें विद्यार्थियों के मगज में ठूँसने का अमोघ साधन है शिक्षा। सरकार के विचारों की दृष्टि से अभीष्ट शिक्षण की योजनाएँ बना करती हैं। ऐसी ज्यादतियाँ अगर आप सह लेंगे, तो आपका और ससार का बुरा हाल होगा। पूँजीवादी ही नहीं, बल्कि सभी 'वादी' राष्ट्र इस प्रकार की योजनाएँ बनाया करते हैं। उनका विरोध करना विद्यार्थियों का फर्ज है, यह पहली बात ध्यान में रखें।

यह पहली बात है, यह उस ऋषि के ध्यान में आया। इसलिए उस वैदिक ऋषि ने कहा। क्या कहा? "मेरे प्यारे शिष्यो, तुम लोग बारह वर्ष तक मेरे पास रहे, विद्या सीखे, लेकिन मुझे अपना आदर्श न मानें। सत्य को ही प्रमाण मानें। मेरी कृति को प्रमाण न मानें। मेरा आचरण सत्य की कसौटी पर परखें। जो खरे उतरें, उनको स्वीकार करें। जो घटिया ठहरें, उन्हें छोड़ दें। सत्य की कसौटी हरएक की बुद्धि के लिए सहजगम्य है। उसे काम में लायें" : 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।'

उस ऋषि ने कहा : "हमारे केवल अच्छे चरित्र अपनायें, बुरों को छोड़ें।" कारण वह यथार्थ ज्ञानदाता गुरु था। उसका बतलाया तत्त्व नवीन नहीं है, लेकिन उसका अमल कहीं भी नहीं होता। इसलिए

अतिशय दयालुता से गुरु के नाते ऋषि ने विद्यार्थियों को यह संदेश दिया। उसे खूब याद रखिये। अपना विचार-स्वातंत्र्य का यह मूलभूत अधिकार अक्षुण्ण रखिये। उसे गँवाइये नहीं।

मैंने 'स्वतंत्र बुद्धि' यह विद्यार्थी का पहला लक्षण बताया। स्वतंत्र बुद्धि का अर्थ है, दबाव-रहित सत्याग्रही बुद्धि। इस बुद्धि के द्वारा आप संसार की तरफ देखें। आपको अनंत चमत्कार दिखाई देंगे। बुद्धि से उन्हें समझें। आज के युग में खोखला दिमाग रखने की गुंजाइश नहीं है। अगर आप अपने सुनिश्चित और पक्के विचार न रखेंगे, तो उसमें किसी दूसरे के विचार घुस जायेंगे। आज की दुनिया कहती है : "दिमाग खाली नहीं रहना चाहिए। उसमें कुछ-न-कुछ भरना ही चाहिए। सद्विचार भरो, या उन्हें नहीं भरना है तो आलू भरो, पत्थर भरो, जो चाहे सो भरो।" इस युग की यह प्रतिज्ञा है कि आपका सिर खाली नहीं रह सकता। खुद विचार न करेंगे, तो वह रेडियो रेंक-रेंककर आपकी खोपड़ी में विचार ठूँसता है। समाचारपत्र विचार करने को बाध्य करते हैं। बिना विचार का दिमाग रखना आज संभव नहीं। इसलिए सत्याग्रही बुद्धि रखें और सद्विचार करें। सद्विचारों को दृढ़ करना और उचित करना, यही आपके लिए एक रास्ता है। अगर आप कहेंगे कि हम विचार नहीं बनायेंगे, तो लोग आपको बनायेंगे। अपने को बनवाइये नहीं। दुनिया के हाथों महज मिट्टी बनकर न रहिये।

आज की दुनिया में उदासीन रहना असंभव है। केवल एकांगी अध्ययन करने की गुंजाइश नहीं। समाजशास्त्र को छोड़कर किसी भी विषय का चिन्तन हो नहीं सकता। इतिहास, अर्थशास्त्र और राज्यशास्त्र का तो हो ही नहीं सकता, लेकिन गणित जैसे स्वतंत्र और तटस्थ विषय का अध्ययन भी समाजशास्त्र के बिना आज नहीं होगा। दर्शन, साधारण नीति, गणित, सामान्य विज्ञान, भौतिकशास्त्र—किसी भी विषय का विचार

समाजशास्त्र-निरपेक्ष करना संभव नहीं है। मानो समाज शास्त्रमें ही ये सारे शास्त्र समाये हों। इसलिए नित्य जागरूक रहकर सर्वांगीण विचार करना नितांत आवश्यक है।

आज संसार में तीन बहुत बड़े विचार-प्रवाह पाये जाते हैं। पहला 'फासिस्टवाद' और 'नाजीवाद' है। दोनों वस्तुतः एक ही हैं। एक जर्मनी में पैदा हुआ और दूसरा इटली में। वह किसी-न-किसी रूप में सारे संसार में है। हमारे हिन्दुस्तान में भी है। दूसरा साम्यवाद है। समाजवाद आदि उसके अन्तर्गत हैं। यह वाद रूस में चल पड़ा और दुनियाभर में फैला। और तीसरा है महात्मा गाधी का विचार। ये तीन ही वास्तविक विचार-प्रवाह हैं। इंग्लैंड, अमेरिका आदि के विचारोंकी, विचार की दृष्टि से कोई गिनती नहीं है। गिनती ही करनी हो, तो ये 'फासी-नासी' के ही भाईबंद हैं। युद्ध में विजय किसीकी भी हो, विचार की दृष्टि से इनमें कोई दम नहीं है। इसलिए इनकी गिनती करने की जरूरत नहीं है।

इन तीनों वादों की प्रगति हमारे सामने है। उनका आप लोग तटस्थ भाव से खूब अध्ययन करें। इनमें से गाधीवाद का तो उदय करीब-करीब हिन्दुस्तान में ही हुआ है। 'करीब-करीब' इसलिए कहा कि दूसरे देशों के विचारकों ने भी इस तरह के विचार व्यक्त किये हैं। कुछ व्यक्तियों ने प्रयोग भी किये हैं। लेकिन इस सिद्धात को साकार बना उसे सगुण रूप देकर उसके प्रत्यक्ष प्रयोग राष्ट्रीय पैमाने पर हिन्दुस्तान में ही हुए हैं। गाधी के प्रयोग के लिए हिन्दुस्तान में अनुकूल परिस्थिति और वातावरण था। दूसरे दो वाद यूरोप में पैदा हुए—साम्यवाद और नाजीवाद। ये तीनों वाद क्यों और कैसे पैदा हुए, इसका विचार हमें करना चाहिए।

इतिहास के अध्ययन से मैंने एक न्याय (नियम) बनाया है। वह आपके सामने रखता हूँ। वह न्याय है—'इन्द्राय तक्षकाय स्वाहा।' साँपों से विरोध हो जाने के कारण एक ब्राह्मण ने सर्प-यज्ञ किया। उसमें

बहुत-से साँपों की आहुतियाँ दीं। लेकिन तक्षक इंद्र के आसन के नीचे जा छिपा। इधर ब्राह्मण ने कहा : 'तक्षकाय स्वाहा'; लेकिन तक्षक का पता नहीं। आहुति व्यर्थ गयी। ब्राह्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ। तब उसने सूक्ष्म दृष्टि से भूगोल का निरीक्षण किया। उसे दील पड़ा कि तक्षक के इन्द्राश्रित होने के कारण आहुति व्यर्थ गयी। इसलिए उसने कहा : 'इन्द्राय तक्षकाय स्वाहा।' ब्राह्मण ने उद्दण्डता से दोनों की आहुति का संकल्प पढ़ा। पृथक्करण का कष्ट नहीं उठाया। लेकिन इन्द्र तो अमर ठहरा। इसलिए उसकी आहुति होना असंभव था। ब्राह्मण ने पृथक्करण की झंझट से बचना चाहा, इसलिए इन्द्र के साथ तक्षक भी अमर हो गया।

. ऐसा कोई भी वाद नहीं, जिसमें एक-न-एक गुण न हो। अगर हम किसी वाद को सर्वथा दुष्ट या दोषयुक्त करार देकर उसके गुणों का भी त्याग करें, तो वह वाद अमर हो जाता है। यदि किसी वाद के गुण-दोषों का पृथक्करण न किया जाय, तो दोषों से भरा वाद भी पनपता है। इसलिए हरएक वाद में जो गुण हों, उन्हें जान लेना जरूरी है। इसीलिए नाजीवाद को सर्वथा दुष्ट करार देना ठीक नहीं। उससे हमें उसके गुण दिखाई नहीं देंगे और न साम्यवाद के सत्य का ही अन्वेषण होगा। किसी भी वाद के सिर्फ दोष ही देखने से वह खंडित नहीं होता।

अगर हम किसी भ्रान्त वाद का भी गुण अपना लें, तो फिर उस वाद में स्थायी रहने लायक कुछ नहीं बचता। इस दृष्टि से हम नाजीवाद के गुण की खोज करें। नाजीवाद एक प्रकार के पूर्व-अभिमान पर स्थित है। प्राचीन परंपरा और पूर्व-इतिहास के अभिमान पर अधिष्ठित है। "हम जर्मन लोग श्रेष्ठ हैं। हमारे इतिहास में भव्यता है। इसलिए परमात्मा या कालात्मा ने एक बड़े महत्त्व का कार्य हमें सौंपा है। हम अपनी पुरानी संस्कृति का रक्षण और पोषण करके ही उस कर्तव्य को

पूरा कर सकेंगे। इसलिए यह जर्मन-वंश बढ़ाना चाहिए। हमारे अंदर श्रेष्ठ गुण हैं। इसीलिए तो यह महत्कार्य हमारे सिपुर्द किया गया है। व्यक्ति की तरह समाज और राष्ट्र में भी विशेष गुण हुआ करते हैं। ये हमारे विशिष्ट गुण ही हमारा अपनापन, हमारा निजत्व है। हमारी संस्कृति शुद्ध है। हम शुद्ध रक्त के, शुद्ध बीज के, शुद्ध विचार के जर्मन लोग ही यह कार्य पूरा करने के योग्य हैं। शुद्ध याने पूर्व-परंपरा से प्राप्त। मेंढक को मेंढकों की परंपरा से मिले गुण शुद्ध हैं। साँप को साँपों की परंपरा से मिले गुण शुद्ध हैं। इसी प्रकार हमें अपनी परंपरा से प्राप्त विशिष्ट गुण ही हमारी शुद्ध संस्कृति है। इसलिए हमें जर्मन-वंश का अभिमान रखकर अपनी परंपरा की रक्षा करनी चाहिए।"

नाजीवाद में दूसरे अनेक दोष हैं, लेकिन यह एक बड़ा आकर्षक गुण है। हाँ, आकर्षक होते हुए भी वह सर्वथा ग्राह्य नहीं है। पूर्व-परंपरा का सातत्य बनाये रखना, उसका धागा टूटने न देना, संस्कृति की परंपरा अविच्छिन्न रखने के लिए अपने पूर्वजों की संस्कृति के प्रति आदर तथा प्रेम रखना—यह उसका वास्तविक ग्राह्यांश है। वंशाभिमान रक्षण करने जैसी वस्तु नहीं है।

इसके विपरीत साम्यवाद में दूसरे ही प्रकार का गुण है। वह देखता है कि सारी दुनिया के गरीब उत्तरोत्तर अधिक ही गरीब होते जाते हैं और अमीर ज्यादा अमीर। गरीबों के पेट की खाई गहरी होते-होते प्रशांत महासागर के बराबर हो गयी है और श्रीमानों के धन की पहाड़ी ऊँची होते-होते हिमालय के सदृश बन गयी है। यह अंतर असह्य होने के कारण साम्यवाद पैदा हुआ। वह कहता है कि बहुमत के नाम पर आज जो शासन चल रहा है, वह यथार्थ लोकसत्ता नहीं है। सिर गिनने की लोकसत्ता सच्ची लोकसत्ता नहीं है। क्योंकि ऐसी लोकसत्ता में गरीबों के सिर श्रीमानों के हाथ में रहते हैं। इसलिए गरीबों के मतदान का कोई मूल्य नहीं। जब तक श्रीमंतों का नाश नहीं होगा,

तब तक किसीको मतदान का समान अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। वर्तमान मतदान-पद्धति केवल आकार में लोकसत्ता के समान है। हमें आकार में नहीं, अपितु प्रकार में भी लोकसत्ता स्थापित करनी है। वह पक्षपातहीन लोकसत्ता होगी। आज यदि निष्पक्ष रहना हो, तो गरीबों का पक्षपात करना ही होगा। आज तक समान-अधिकार के नाम पर श्रीमानों की प्रतिष्ठा खूब बढ़ायी गयी। समत्व, न्याय और समान-अवसर का स्वाँग रचा गया। समान-अवसर माने गरीबों की पिसाई! गामा पहलवान और सींकिया-पहलवान की कुश्ती तय कराकर दोनों को समान-अवसर देने का दम भरा जाता है। गामा पहलवान की जीत निश्चित ही है। पहले गरीबों का उद्धार कीजिये; बाद में समान-अवसर आदि सिद्धांतों की बात कहिये। गरीबों के उद्धार के लिए चाहे जैसे साधन का प्रयोग करना पाप नहीं है। इस प्रकार साम्यवाद में गरीबों के प्रति पराकाष्ठा की तड़पन, यह गुण है।

इस प्रकार दो गुणों की बदौलत ये दो वाद संसार और हिन्दुस्तान में फैल रहे हैं। मैंने दोनों का गुणग्राही वर्णन किया। पूर्व-परंपरा के प्रेम से नाजीवाद हिन्दुस्तान में फैलना चाहता है। महाराष्ट्र में विशेष फैलना चाहता है। मैं सिर्फ महाराष्ट्र के ही विषय में बोल रहा हूँ, क्योंकि महाराष्ट्र के दोष दिखाने का मुझे विशेष अधिकार है। महाराष्ट्र में 'हमारा महाराष्ट्र धर्म', 'हमारी पेशवाई' (पेशवाशाही), 'हमारा मर्द मराठा सिपाही', 'हमारी संस्कृति', 'हमारे समर्थ (रामदास) और उनकी बजरंगबली की उपासना' आदि भावनाओं को जो दल प्रोत्साहन देता है, उसके प्रति तरुणों में आकर्षण पैदा होता है। उनको उन विचारों में प्राचीन इतिहास के अभिमान का बहुत बड़ा गुण दीखता है। दासनवमी (श्री रामदास-निधन-पुण्यतिथि), हनुम-जयन्ती, भीष्माष्टमी, शिवाजी-उत्सव आदि से स्फूर्ति और आवेश मिलते हैं। अतः उस पक्ष में दूसरे कितने ही दोष क्यों न हों, तो भी वह तरुणों को आकर्षक प्रतीत होता है।

गुजराती डरपोक, गाय जैसे सीधे, साँप को भी न मारनेवाले लोग हैं। इन्होंने व्यापार के सिवा कभी कुछ नहीं किया। तलवार कभी उठायी नहीं है। उस परंपरा का यह 'सामल' है। उसका वाद उसी तरह के लोगों को जँचेगा। लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ कि बात ऐसी नहीं है। अगर ऐसी बात होती याने इस वाद में डरपोकपन और 'सामलपन' होता, तो एक महाराष्ट्रीय के नाते मैंने उसे कभी का फेंक दिया होता। 'सामलपन' कड़ुआ, मीठा, खट्टा, चाहे किसी भी तरह का क्यों न हो, मैं तुमसे उसकी सिफारिश नहीं करता।

परंतु मैं कह चुका हूँ कि वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। तुम जाँच-पड़ताल कर देख लो। अगर इस वाद की जाँच आप लोग नहीं करते, तो मैं कहूँगा कि तुम विद्यार्थी बुद्धू बन चले हो। दूसरा आरोप नहीं लगाऊँगा, सिर्फ 'बुद्धू' कहूँगा।

हिंदुस्तान आज डेढ़ सौ वर्षों से निःशस्त्र है। न शस्त्र-शक्ति और न द्रव्य-शक्ति ही रह गयी। इस तरह यह केवल शक्तिहीन राष्ट्र हो गया था। इस राष्ट्र के सामने यह प्रश्न था कि वह कमर सीधी रखने की शक्ति कैसे हासिल करे। इस विषय में विचार-मंथन शुरू हुआ। शस्त्र और द्रव्य दोनों तरह की शक्ति लुप्त हो जाने के बाद भी क्या कमर सीधी रह सकती है? क्या अपना व्यक्तित्व बनाये रख सकते हैं? इस तरह का विचार-मथन शुरू हुआ।

किसीने समझा, पाश्चात्यों का अनुकरण करना चाहिए, उनकी विद्या सीखनी चाहिए। किसीकी राय में धर्म-सुधार से ही हमारी उन्नति होगी। धर्म-सुधार की शक्ति उत्पन्न करने के लिए ब्राह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज, थियोसाफी आदि संस्थाएँ स्थापित हुईं। ये सारे समाज ऊपर से धार्मिक भले ही प्रतीत होते हों, उनकी जड़ में दूसरी ही बात थी। 'हमारी द्रव्य-शक्ति और शस्त्र-शक्ति जाती रही, अब हम बुद्धि-शक्ति के बल सीधे कैसे खड़े हो सकेंगे ?'—यह तड़पन उन सबके पीछे थी।

बुद्धि-शक्ति के लिए ही शिक्षण-विषयक सुधार शुरू हुए। बुद्धि-शक्ति ही एकमात्र आशा रह गयी थी। इसलिए गांधी से पहले धर्म-सुधार के साथ शिक्षण-सुधार भी जोड़ दिया गया था। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रानडे, रविबाबू, अरविन्द प्रभृति ने बुद्धि के बल पर आगे आने का यत्न किया। जब शस्त्र की ताकत न रही, द्रव्य की ताकत न रही, तो और क्या करते!

शिक्षण-विषयक सुधार में अंग्रेजी विद्या का अनुसरण शुरू हुआ। तब दूसरा एक पक्ष सामने आया। वह कहने लगा: "हमें अंग्रेजी की उपासना नहीं चाहिए। प्राचीन विद्याओं को ही नवीन स्वरूप में गति दें।" इस विचार के अनुसार गुरुकुल आदि संस्थाएँ खुलीं। उसमें से तीसरा आंदोलन राष्ट्रीय शिक्षा का निकला। प्राचीन संस्कृत विद्या और नवीन विद्या से लाभ उठाने का यह प्रयत्न था। ऐसा माना जाने लगा कि पुनरुज्जीवन और सुधार का शिक्षण ही राष्ट्रीय शिक्षण है। लेकिन तीनों प्रकारों के मूल में विचार एक ही था। वह यह कि बुद्धि के द्वारा शक्ति निर्माण करेंगे। शक्ति-निर्माण के तीन द्वार हैं—धन, बल और बुद्धि। लक्ष्मी और शक्ति के दरवाजे प्रायः बन्द हो गये। तब अंग्रेजों से टक्कर लेने के लिए तीसरा विद्या का ही द्वार बाकी रह गया। इस विचार से यह आंदोलन शुरू हुआ। कई देश-भक्तों ने उसमें भाग लिया।

लेकिन बुद्धि में शक्ति कैसे आये? क्या बुद्धि का स्वतन्त्र पोषण होता है? क्या आचारहीन बुद्धि शक्तिशालिनी हो सकती है? निराचार बुद्धि शक्तिशाली नहीं हो सकती। जब तक बुद्धि आचार में परिणत करने की प्रक्रिया सिद्ध नहीं होती, तब तक स्वतंत्र रूप से वह शक्तिशाली नहीं होती। जब यह ध्यान में आया, तब कांग्रेस स्थापित हुई। बुद्धिमान् लोग कहने लगे कि "आओ, हम गरीबों की शिकायतें दूर करने के लिए अपनी बुद्धि काम में लायें; अर्थात् उसे सक्रिय बनायें। यह विचार उचित

था। लेकिन शिकायतें पेश कर उनका निराकरण कराने का प्रयत्न एक मर्यादा तक ही सफल होता है। पूर्ण सफल नहीं होता। अव्यक्त शिकायतें व्यक्त हो जाती हैं, ऐसा काग्रेस को अनुभव हुआ। कांग्रेस शिकायतें तो पेश करती थी; लेकिन उसकी बात हवा में उड़ जाती थी। उसका प्रयत्न सफल नहीं होता था। क्यों नहीं होता था? इसलिए कि शिकायतों के दूर होने की संभावना नहीं थी। सो कैसे? इसलिए कि सारी शिकायतों की शिकायत परतंत्रता ही है। वह जड़ जब तक कायम रहती है, तब तक ऊपर-ऊपर से कितनी ही कोंपलें काट दें, पुनः नयी कोंपलें निकलती ही रहती हैं।

यह बात काग्रेस के ध्यान में आ गयी। सहज ध्यान में आनेवाली है। मनुष्य पेड़ की और सब डालियाँ काट सकता है; लेकिन जिस शाखा पर वह खड़ा हो, उसे नहीं काट सकता। अंग्रेज सरकार कई सुधार कर सकती है। लेकिन वह जिस सत्ता की डाल पर खड़ी है, उस मुख्य शाखा को कैसे तोड़ेगी? आप बुद्धिवाद करके कितना ही समझायें—जैसे उन्होंने मुझसे कहा, 'कृपया हिंदी में बोलिये', उसी तरह आप भी कहें, 'कृपया यह शाखा तोड़िये'—तो वह कैसे सुन सकती है? वह कृपा उसकी जान ले लेगी। सरकार फुटकर टहनियाँ तोड़ देगी, लेकिन मुख्य शाखा को हाथ न लगायेगी। कहेगी : 'स्वतंत्रता की जय' न बोलिये; 'अंग्रेज सरकार की जय' बोलिये।

बात लोगों के ध्यान में आ गयी। ध्यान में आने पर सवाल यह हुआ कि अब क्या करें? वचन सुना : 'शक्तीनें मिळती राज्यें। युक्तीनें यत्न होतसे।' अर्थात् शक्ति से ही राज्य मिलते हैं और युक्ति से यत्न होता है। मतलब, शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। दहशत बैठाना शक्ति है और गुप्त रूप से कार्य करना ही युक्ति है, ऐसा समझा जाने लगा। अब 'अधिकारियों को मारें, षड्यन्त्र करके बम बनायें' इस प्रकार के विचार शुरू हुए। अफसरों के खून हुए। यह सब शुद्ध-बुद्धि से हुआ।

लेकिन उन्हें क्या अनुभव हुआ ? बम बनाने के लिए पैसों की जरूरत है। फिर उन्होंने इतिहास से पाठ पाया। शिवाजी महाराज ने स्वराज्य-स्थापना के लिए सूरत शहर लूटा। अब ये लोग भगवद्गीता की दुहाई देकर सद्भावना से डाके डालने लगे। लेकिन पहले से जो पेशेवर गरीब लुटेरे थे, वे भी डाके डालने लग गये। इनकी अपेक्षा वे निपुण थे। उन्होंने ज्यादा डाके डाले। लेकिन इसका लोगों को कैसे पता चले ? लोग कैसे जानें कि कौन-सा डाका किसका है ? बकरा क्या जाने कि छुरी किसकी है ? उसे क्या पता कि उसकी गरदन काटने वाली छुरी उसे यज्ञ के लिए मारनेवाले ब्राह्मण देवता की है या मांस बेचनेवाले कसाई की ? लोग डाकों को पहचान न सके। 'हमें बचाओ' इतना ही कहने लगे। इसलिए सरकार की अच्छी बन आयी। अराजक और डाकू में फर्क न कर पाने से बमों का मार्ग बेकार हुआ।

बाद में महात्मा गांधी आये। उन्होंने कहा, अराजकों की तड़पन तो ठीक है, लेकिन पद्धति सही नहीं है। मुख्य सत्ता ही तोड़नी चाहिए। लेकिन वह हिंदुस्तान में हिंसा से हो नहीं सकता। संगठित हिंसा पर आधारित यह प्रक्रिया जब व्यापक परिणाम में हो, तभी वह सफल हो सकती है। आज की सरकारें अत्यन्त संगठित और व्यापकतम हिंसा की सरकारें हैं। उतना व्यापक हिंसक संगठन प्रजा नहीं कर सकती। इसलिए उसकी हिंसा किसी काम की नहीं साबित होती। गुप्त आन्दोलन से शक्ति निर्माण नहीं होती। बहुत हुआ तो राष्ट्र प्रेम की प्यास बुझती है। कुछ-न-कुछ करने की तड़पन शांत होती है। व्यक्तिगत संतोष मिलता है। लेकिन संगठन के लिए यह पद्धति उपयोगी नहीं है। राष्ट्रीय उत्थान की दृष्टि से यह किसी काम की नहीं है।

इसलिए गांधी ने कहा "आम जनता का खुले तौर पर संगठन करने की मेरी पद्धति ही परिणामकारक ठहरेगी। सरकार अपनी सत्ता

पर नहीं टिकती। लोगों से मिली सत्ता पर ही टिकती है। उसे लोगों के आधार की जरूरत होती है। सरकार और लोग, इन दोनों हाथों से राज्य की ताली बजती है। आप अपना हाथ हटा लीजिये, तो उसका हाथ अपने-आप बेकार पड़ जायगा। लोग अपनी दी हुई सत्ता हटा लें, तो सरकार नहीं टिक पाती। इस प्रकार के संगठन द्वारा ही हम प्रतीकार की शक्ति निर्माण कर सकेंगे।"

हिंदुस्तान इतना बड़ा चालीस करोड़ का राष्ट्र कैसे बना? हमारी पूर्व परंपरा के गुण से इतना बड़ा राष्ट्र बना। यह कोई हलका-पतला राष्ट्र नहीं है। हमारे परमपूज्य राष्ट्र-कवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने भारत को 'भारतेर महामानवेर सागरतीरे' कहा है। सारी दुनिया से आ-आकर लोग यहाँ बसे हैं। सभी आक्रमण कर जबरदस्ती आये नहीं हैं। हमने उन्हें समझ बूझकर आश्रय दिया। पारसियों ने आक्रमण नहीं किया था। हमने प्रेम से उन्हें जगह दी। जो आक्रमण करके यहाँ आ जमे हैं, वे भी अब मिल-जुलकर एकरस-से हो गये हैं। अब जान-बूझकर कोई झगड़ा खड़ा करे, तो वह अलग बात है। हमारे राष्ट्र की मर्यादा की एक पुरानी परंपरा है—हम दूसरों को अवसर दे सकते हैं और दूसरों पर आक्रमण नहीं करते।

इस परंपरा में से गांधी को यह विचार मिला। हमारे पास प्रतीकार का शस्त्र है। शस्त्र-माने शासन या नियमन करनेवाला। यह अर्थ हाथ पर घटित होता है, हथियार पर नहीं। हथियार तो शस्त्र ही नहीं है। वह औजार है, जड़ वस्तु है। उसे स्वतंत्र मूल्य नहीं है। उसकी दरकार नहीं है।

हिंदुस्तान की महान् आवश्यकता, उसके इतिहास की एकमात्र माँग पूरी करने के लिए यह विचार उत्पन्न हुआ। इसीलिए वह फैल रहा है। बीस वर्षों में काफी फैला। मानो संसार में कहीं अहिंसा को स्थान ही नहीं रहा। लेकिन हिंदुस्तान में युवक भी यह चर्चा करते हैं कि

राष्ट्रीय व्यवहार में हिंसा उचित है या अहिंसा ? मैं समझता हूँ कि अहिंसा की दिशा में यह बहुत ही बड़ी प्रगति है। हम यह अपेक्षा नहीं रखते कि सब-के-सब फौरन अहिंसावादी बन जायँगे। सबको पहले विचार ही करना चाहिए। आज युवकों ने भी हिंसा का नये सिरे से विचार शुरू किया है, यही सच्ची प्रगति है। इससे अधिक तेजी से गाधी का विचार फैलाना सभव नहीं था। मैं कहता हूँ, फैलाना भी नहीं चाहिए। धीरे-धीरे विचारपूर्वक ही उसका स्वीकार होना चाहिए।

यह विचारधारा हिंदुस्तान की पूर्व-परपरा में से पैदा हुई है या नहीं ? मेरा मतलब हिंदुस्तान की मुख्य पूर्व-परपरा से है; फुटकर प्रवाहों से नहीं। हिंदुस्तान में परपरा के बहुत से फुटकर प्रवाह हैं। मराठों की, राजपूतों की, सिक्खों की-ऐसी कई परपराएँ हैं। लेकिन हिन्दुस्तान के अनेक धर्मों, जातियों, भाषाओं और प्रान्तों को एकत्र रखनेवाली जो परपरा है, वही मुख्य परपरा है। उसीमें से इस विचार का निर्माण हुआ। उस परपरा का अभिमान रखिये।

इस प्रकार नाजीवाद का गुण भी इस विचार से भलीभाँति मेल खाता है। जेल में मैंने इस परपरा का विचार किया। महाराष्ट्र और हिन्दुस्तान का विचार किया। ठेठ वेद-काल से लेकर आज तक सारे भारत के इतिहास में जिन जिन व्यक्तियों ने क्राति की, उनका विचार किया। उस बारे में कुछ लिखना भी शुरू कर दिया था। परशुराम और गृत्समद पर लिखा और इसी बीच हम जेल से मुक्त हो गये। हिन्दुस्तान के विशाल इतिहास में जाति विशेष की परपरा इतनी छोटी, इतनी क्षुद्र ठहरती है कि उनका अलग विचार करने की जरूरत ही नहीं। हिन्दुस्तान की परपरा एक महान् वटवृक्ष की परपरा है। उस वटवृक्ष का आश्रय लेने के बदले उसकी शाखाएँ काटकर सिर फोड़ लेना बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है। हिन्दुस्तान की परपरा हिन्दू, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, बौद्ध, जैन, इन सबके महान् शास्त्रकारों

और असंख्य साधु-सन्तों की परम्परा है। अगर मैं इस परम्परा को छोड़ूँगा, तो अपने राष्ट्र का तेजोवध करूँगा; इस विषय में मुझे तनिक भी संदेह नहीं रहा। इस अर्थ में नाजीवाद के पूर्व-संस्कृति के अभिमान का गुण रूपान्तर में गांधीवाद में है। लेकिन उसका स्वरूप इतना भिन्न है कि उसमें नाजीवाद के वंशाभिमान का दोष नहीं है। हमारी पूर्व-परम्परा व्यापक है। इसलिए उसका अभिमान भी करीब-करीब विश्वव्यापी है। उसे अभिमान भी नहीं कह सकते। प्राचीन काल के सांस्कृतिक प्रयत्नों का अनुसंधान रखना ही उसका मुख्य लक्षण है।

'गरीबों का उद्धार हम उच्चवर्गियों को करना चाहिए', यह भाषा गलत है। गरीबों का उद्धार करनेवाला, उन्हें उबारनेवाला, मैं अलग हूँ, यह भावना उसमें छिपी हुई है। अगर मैं उन्हें न उठाऊँ, तो उनका उत्थान नहीं हो सकता, यह मिथ्या-अभिमान उसमें है। गरीबों का उद्धार उन्हींके हाथों में है। गांधी ने आम जनता को यही शक्ति प्रदान की। गरीबों का उद्धार गरीबों के ही द्वारा होना चाहिए, यह साम्यवाद का सार है। उसे हम अपना लेंगे। हम लोग पौष्टिक वस्तुओं का भी सार ही ग्रहण करते हैं। बादाम और दूध का भी शरीर के लिए उपयोगी अंश ही हम स्वीकार करते हैं। साम्यवाद के बारे में भी सारासार विचार करना चाहिए। गरीबों का उद्धार गरीबों को ही करना चाहिए, उसका यह सारभूत अंश हम ग्रहण करेंगे और निःसार अंश त्याग देंगे।

साम्यवाद की प्रक्रिया में हिंसा द्वारा क्रांति की शिक्षा है। यह उसका निःसार अंश है। हिंसा की शक्ति जनता की शक्ति नहीं हो सकती, जैसे विद्वत्ता आम जनता की शक्ति नहीं होती। वह मुट्ठीभर पण्डितों की शक्ति है। वह उन्हींके ताले-कुंजियों में बंद रहा करती है। वैसे ही तलवार भी आम जनता की शक्ति नहीं है। बूढ़े, स्त्रियाँ, बच्चे या अशक्तों की वह शक्ति नहीं। वह तो बत्तीस इंच या चौंतीस

इंच छातीवाले तगड़े प्राणियों की शक्ति है। इतने चौड़े सीनेवाले ऊँचे-तगड़े प्राणी हमेशा सज्जन ही नहीं होते। फिर उनकी शक्ति भी स्थायी नहीं होती। हिंसा की शक्ति से जो अर्जन करेंगे, उसे सँभालने के लिए निरंतर हिंसा ही करनी पड़ेगी। इसलिए वह गरीबों की, आम जनता की शक्ति नहीं हो सकती।

हमने साम्यवाद का सार, गरीबों को अपना उद्धार अपने तई करने को समर्थ बनाने की आस्था ग्रहण कर ली और निःसार वस्तु त्याग दी। नाजीवाद का सत् अंश पूर्व-परम्परा का अभिमान भी ग्रहण किया। लेकिन हमारे अभिमान को 'अभिमान' शब्द ही लागू नहीं है, इतना वह व्यापक है। जो राष्ट्र एकरंगी हैं, उनका देशाभिमान सकुचित होता है। हिन्दुस्तान की परम्परा मिश्र और व्यापक है। व्यापक भारत की, इस महामानव-समुद्र की, मिश्र परम्परा का अभिमान सकुचित हो ही नहीं सकता। वह निष्कलक है। इस प्रकार व्यापक भारत का अभिमान और गरीब लोगों की शक्ति प्रकट करना—ये दो गुण दो वादों से लेनेवाला यह तीसरा वाद मैंने यथासभव तटस्थता से आप लोगों को बतलाया।

'यथासभव' कहने का कारण एक अर्थ में मैं भी पक्षपाती हूँ। मुझे यह वाद जँच गया, वह मेरे जीवन में दाखिल हो गया है। यानी मैं उसका हो गया। फिर भी मैं उसे जितनी तटस्थता से रख सकता हूँ, उतनी तटस्थता से मैंने आपके सामने रखा है। मेरा पहला सूत्र याद रहे। मैं कहता हूँ इसलिए या गाधी कहते हैं इसलिए उसे न स्वीकार कीजिये। व्यापक बुद्धि और तटस्थ वृत्ति से विचार कीजिये।

यह बतला चुका हूँ कि हिंसा जनता की शक्ति नहीं है। अब यह दिखाना बाकी है कि अहिंसा जनता की शक्ति कैसे हो सकती है? याने अहिंसा को सामाजिक रूप कैसे दिया जा सकता है? अब तक एक-एक व्यक्ति द्वारा अहिंसा के बल पर विजय पाने के उदाहरण

हमारे यहाँ और संसार में पाये जाते हैं। एकनाथ महाराज, ईसा, सुकरात ने अहिंसा की दृढ़ता की सामर्थ्य दिखा दी है।

प्रयोग की प्रक्रिया ऐसी ही होती है। विज्ञान के क्षेत्र में भी एक-एक व्यक्ति प्रयोगशाला में प्रयोग करता है। उसके सिद्ध होने पर उस सिद्धांत का व्यापक प्रयोग या सामाजिक विनियोग होता है। भाप की शक्ति का आविष्कार वैयक्तिक प्रयोग से हुआ है। तदुपरांत समाज में उसका विनियोग हुआ। यदि वह शोध व्यक्ति तक ही सीमित रह जाता, तो बेकार साबित होता। लेकिन अहिंसा में व्यक्तिगत प्रयोग भी अकारथ नहीं जाता। अहिंसा की शक्ति व्यक्तिगत होने पर भी कार्य करती है; उसे सामाजिक बनाया जाय, तो बहुत बड़ा कार्य करती है।

एक शंका की जाती है : 'क्या सारा समाज एकनाथ, बुद्ध या ईसा बन सकता है ?' यदि बन सकता, तो आपके सामने योजनाएँ ही पेश न करनी पड़तीं। हम-आप सामान्यजन उनके प्रयोग से लाभ उठा सकते हैं। उसके लिए उनके बराबर शक्ति की जरूरत नहीं है। गुरुत्वाकर्षण के शोध के लिए न्यूटन में विशेष बुद्धि होनी चाहिए। लेकिन उस शक्ति से काम लेने के लिए मिस्त्री में उतनी बुद्धि की जरूरत नहीं है। हिटलर भी अपने क्षेत्र में अद्वितीय है। वह नये-नये शस्त्रों का शोध करता है। लेकिन उसे जिस बुद्धि की जरूरत होती है, वह उन अस्त्र शस्त्रों को बरतनेवाले सिपाही को नहीं होती।

प्रथम शोध करनेवालों को अद्भुत और अलौकिक होना ही चाहिए। लेकिन सामाजिक प्रयोगों के लिए अलौकिक शक्ति की जरूरत नहीं है। गांधी को अलौकिक, अद्वितीय शक्ति की आवश्यकता हो सकती है। लेकिन उस शक्ति के सामाजिक प्रयोग के लिए अलौकिक सामर्थ्य की आवश्यकता नहीं है।

गुण्य-गुणक का उदाहरण लीजिये। तकली बिलकुल छोटी-सी है। उस पर चालीस ही तार कत सकते हैं। लेकिन अगर उसे चालीस करोड़

हाथ चलाने लगें, तो चालीस करोड़ गुने चालीस तार होंगे। अहिंसा भी ऐसी है। तकली की तरह वह सीधी-सादी, सुविधाजनक और छोटी-सी है। उसे बूढ़े, बच्चे, स्त्रियाँ सब चला सकते हैं। हम चालीस करोड़ लोग अहिंसा के प्रयोग की तकलियाँ हैं। अगर हम एक-एक तोला अहिंसक शक्ति प्राप्त करें, तो भी वह समाज के लिए हजरत ईसा की अहिंसा की अपेक्षा अधिक उपयोगी ठहरेगी। खेत में एक ही जगह मनों खाद डालने से काम नहीं चलता। अगर एक-एक इंच ही खाद सारे खेत में बिखेर दी जाय और वह जमीन मे गले, तो ज्यादा उपयोगी साबित होती है। हम अगर थोड़ी-थोड़ी अहिंसक शक्ति कमायें, तो हिमालय से भी बुलंद कार्य होगा, जो ईसा की मनों अहिंसा की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक होगा।*

सर्वोदय : फरवरी १९४२

---

* वर्धा के जीवन-समीक्षक मण्डल में (२२ दिसम्बर १९४१ को) दिया गया भाषण।

समाजवाद का स्वरूप

: १२ :

समाजवाद की मूलभूत कल्पना नयी नहीं है। अपरिग्रह और यज्ञ की योजना में उसका पूरी तरह समावेश हो जाता है। समाज प्रवाहात्मक और नित्य है। इस पूर्वसिद्ध सामाजिक ऋण को लेकर व्यक्ति जन्म लेता है। समाज से प्राप्त सेवा समाज को वापस लौटाना व्यक्ति का जीवन-कर्तव्य है। कर्ज चुकाने में दूसरे किसी पर उपकार नहीं होता। अपनी ही ऋण-मुक्ति होती है। संपूर्ण ऋण-मुक्ति का नाम ही मोक्ष है। 'मैं तो अलग हूँ' यों जो आदमी सोचता है, वह बेकार अपने-आपको 'मेरा मैं' कहकर जब स्वार्थबद्ध हो जाता है, तो व्यर्थ ही संकुचित हो छोटा बन जाता है। इसके विपरीत 'मेरा कुछ नहीं, जो कुछ है, सबका है', यों जब आदमी सोचता है, तो कल्पना व्यापक होकर वह सही अर्थ में धनवान् बन जाता है। देह का अवयव देह से क्यों डरे ? समाजवाद का यह असली तत्त्व है।

इसके साथ मानव-जाति के संपूर्ण इतिहास की अर्थ-मूलकता, वर्ग-विग्रह की अपरिहार्यता आदि कल्पना-जाल इसके आसपास खड़ा कर दिया गया। अर्थ-मूलकता देखने जाते हैं, तो काम-मूलकता को भी देखना होगा। कौन कहता है कि मनुष्य में अर्थ-प्रेरणा और काम-प्रेरणा नहीं है ? परन्तु इसे मनुष्यता नहीं कह सकते। हम तो मानते हैं कि मनुष्य की अन्तरतम प्रेरणा भिन्न ही है। परन्तु उसे सिद्ध करने के लिए मनुष्य को अपना व्यक्तित्व प्रेमपूर्वक समाज को अर्पण करना चाहिए। यह भी न भूलना चाहिए कि 'समाज' का अर्थ भी संकुचित न कर उसमें यथासम्भव भूतमात्र का समावेश कर लेना है। इतना सब समझ लें, तो फिर अहिंसा के बगैर चारा ही नहीं रह जाता।

नित्य-यज्ञ की आवश्यकता : १३ :

आजकल के युग में राष्ट्रीय जाग्रति की जो कुछ नयी कल्पनाएँ निकली हैं, उनमें नित्य-यज्ञ की कल्पना मुझे अत्यन्त स्फूर्तिदायक मालूम होती है। गरीबों का निरन्तर ध्यान रखने, राष्ट्र के लिए कुछ निर्माण करने और जो निर्माण किया, उसे राष्ट्र को अर्पित कर देने की यह कल्पना अत्यन्त उज्ज्वल है। आजकल हम प्रतिवर्ष लगभग पचास लाख की खादी पैदा करते हैं। कहा जाता है कि अधिक जोर लगायें, तो एक करोड़ तक भी पहुँच सकते हैं। किन्तु मान लें कि भारत में हर आदमी को औसतन पाँच रुपये के कपड़े की जरूरत है, तो सवाल दो सौ करोड़ का है। इस हिसाब से हमारे काम की गति बहुत ही कम है। उसमें वेग नहीं आता। इसका मुख्य कारण यही है कि इस नित्य-यज्ञ-कल्पना के मूल में जो आध्यात्मिक तत्त्व है, वह हमारी समझ में नहीं आया। कोई भी सार्वजनिक प्रयोग तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक हम ठेठ उसकी तह तक नहीं पहुँच जाते। तब तक वह सार्वनिक भी नहीं होता।

नित्य-यज्ञ की कल्पना के बारे में लोगों में स्फूर्ति क्यों नहीं पैदा होती, इस पर यदि विचार करें, तो एक बात सामने आती है। वह यह कि अति प्राचीन काल से हमने यह एक आध्यात्मिक सिद्धान्त निश्चित कर लिया है कि मनुष्य को कर्म से मुक्त हो जाना चाहिए। अन्तिम ध्येय के रूप में वह ठीक है, पर हमने तो उसे अपना आचार-सूत्र-सा ही बना लिया। हमने मान लिया कि हम ध्यान करें या भक्ति अथवा ज्ञान-चर्चा ही करें, तो भी हमें प्रत्यक्ष कार्य से अलग हो जाना चाहिए। यह सच है कि मध्ययुगीन सन्त अपने दैनिक काम में

तन्मय रहते थे। परन्तु हम यह ठीक से नहीं जानते कि अपना वह कार्य करने में ही वे भक्ति या आत्मज्ञान का भी अनुभव करते रहते थे। उन्हें अपनी प्रतिदिन की आजीविका के उद्योग में ही भजन के आनन्द का अनुभव होता। वे अपना काम एक प्राप्त कर्तव्य समझकर कर लेते और फिर मुक्त हो भजन का आनन्द लूटते। जहाँ तक मैंने देखा, यद्यपि वे कार्यमग्न रहते, फिर भी उनकी उपासना कर्म से पृथक् रही। इसके लिए मुझे उनसे कोई शिकायत है, ऐसी बात नहीं। फिर भी यह पूछना चाहता हूँ कि क्या मध्ययुग के संतों की जीवन-स्थिति ऐसी थी कि चरखा, हल या ऐसा ही कोई जीविका का औजार, साधन उनकी उपासना का द्वार था, उसके द्वारा होनेवाली क्रिया ही उनकी उपासना की धारा थी, उसमें तन्मय हो जाना ही उनका ध्यान था, और उससे जो उत्पादन होता, वही समाज को अर्पण कर उसीको वे भगवान् की पूजा मानते तथा इन सारी क्रियाओं से उन्हें जो चित्त की समता प्राप्त होती, वही उनका योग था? क्या यह सब उनकी उपासना और भक्ति की परिभाषा में आता था? जिन अष्ट सात्त्विक भावों की बात वे करते, निश्चय ही उपास्य मूर्ति के चिन्तन या कीर्तन में उनके अन्दर वे उत्पन्न होते थे। फिर भी यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि वे अपने प्रतिदिन के कामों को ही उपासनारूप मानते थे। 'कर्मों को उपासना का ही रूप समझो' इस अर्थ के शब्द भी उनकी वाणी में मिल सकते हैं। परन्तु सभी सन्तों का समग्र रूप से विचार करें, तो उनका जीवन-प्रवाह देखते हुए ऐसे वचन गौण ही मालूम होते हैं। शायद सन्तों के बारे में यह खयाल गलत भी हो। परन्तु सर्वसाधारण के बारे में तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गत सैकड़ों वर्षों से उनमें यही कल्पना रूढ़ है कि कर्मों से मनुष्य को छुट्टी पानी चाहिए। निवृत्ति-मार्ग को लीजिये या भक्ति-मार्ग को, कर्मों को टालना ही सची भक्ति या सच्चे ज्ञान का रूप माना गया है। किन्तु

कर्म के बिना छुटकारा नहीं। उसके बिना जीविका चलाना कठिन है। आदमी दूसरों के लिए बोझ बन जाता है। इसलिए अधिक-से-अधिक लोग यही समझ लेते हैं कि किसी तरह कर्म कर डालो। किन्तु उपासना तो कर्म से अलग ही होनी चाहिए, ऐसी लोगों की कल्पना थी। मैं कहना चाहता हूँ कि जो लोग ऐसा मानते थे या आज भी मानते हैं, उनके विचारों में कमी है। कर्म को टालना या उसे जैसे-तैसे करके छुट्टी पा लेना और इसी में आध्यात्मिकता मानना मेरी दृष्टि से विचार-दोष है। इससे बड़ी हानि हुई है। इसलिए यदि आप राष्ट्र को उद्योगशील बनाना चाहते हैं, तो जीवन को उद्योगशील बनाकर इस विचार को दृढ़ और स्थिर करें। मनुष्य को स्वयं इसका अनुभव करना चाहिए और दूसरों को भी ऐसी प्रेरणा देते रहना चाहिए।

अब तक जो खादी-कार्य हुआ है, उसमें मुझे इस वस्तु की कमी महसूस हुई है। चरखा-संघ ने अपने कार्यकर्ताओं से यह अपेक्षा की है कि वे रोज एक लटी सूत कातें अथवा यदि रोज एक न कात सकें, तो कम-से-कम महीनेभर में तो तीस लटी पूरी कर दें। इसलिए हर महीने 'खादी-पत्रिका' में इस बात के अंक प्रकाशित किये जाते हैं कि कितने लोगों ने महीने में ७॥ गुण्डी सूत काता, कम कितनों ने काता और ऐसे भी कितने थे, जिन्होंने बिलकुल नहीं काता। उसमें मैं देखता हूँ कि बिलकुल न कातनेवालों की संख्या भी कम नहीं होती। वे शायद सोचते हैं कि मजदूर इतना सूत कातते हैं, हम रोज ढेरों से इस सूत को तौलते हैं और उन्हें इसकी मजदूरी चुकाते हैं। इसमें यदि हमारा ७॥ गुण्डी सूत न भी हुआ, तो क्या फर्क पड़नेवाला है? परन्तु यह तो अंकगणित का गुणा बता सकता है कि जिसे हम थोड़ा-थोड़ा समझते हैं, वह वास्तव में कितना अधिक हो जाता है। हमें सूत के ढेर जरूर दिखते हैं। परन्तु हमारे देश की आबादी भी कितने करोड़ है! उसकी तुलना में तो ये ढेर कम ही पड़ेंगे।

अभी तक हमारे लोग नहीं समझ पाये कि रोज कातने में लाभ क्या है ! महत्त्व की बात यह है कि हम सारे राष्ट्र के लिए एक राष्ट्रीय उपासना सिद्ध करना चाहते हैं। इससे आध्यात्मिक क्रांति होगी और उसके द्वारा राजनैतिक और सामाजिक क्रान्ति होगी। यदि यह दर्शन उन्हें हो जाय, तो वे जरूर कातने लग जायँ। फिर जिस दिन कताई न हो पायेगी, उन्हें खाना अच्छा नहीं लगेगा। मुझे यह देखकर दुःख होता है कि हमारे लोग अभी तक इस बात को अच्छी तरह समझे नहीं हैं। किसी समय कांग्रेस ने यह निश्चय किया था कि जो लोग सूत कातकर देंगे, वे ही उसके सदस्य हो सकेंगे। परन्तु यह बात बहुत दिन नहीं चल सकी। हम जबान से तो कहते हैं कि पूँजीपतियों के हाथों में सत्ता न रहे। गरीबों के हाथों में आ जाय। गरीबों का राज्य हो। परन्तु जिस चीज द्वारा गरीबों की इज्जत बढ़ती है, उसे हमने छोड़ दिया और उसके बदले चार आने अर्थात् पैसे को प्रतिष्ठा प्रदान कर दी ! सदस्यता के लिए यदि सूतवाली शर्त कायम रह जाती, तो चाहे जितने पैसे देने पर भी कोई भी पूँजीपति बगैर इतना परिश्रम किये कांग्रेस का सदस्य नहीं बन सकता। वे पैसे दान समझे जा सकते। केवल इस एक चीज से समाजवाद का जितना प्रचार हो जाता, उतना अन्य किसी वस्तु से नहीं।

इसलिए मैं यहाँ के विद्यार्थियों से कहना चाहता हूँ कि वे रोज सूत कातें। इसे अपने जीवन का नियम बना लें। किसी दिन भोजन न करें, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। भोजन रोज करना कर्तव्य भी नहीं है। भोजन छोड़ने के जितने प्रसंगों की कल्पना कर सकते हैं, उतने इस नियम को तोड़ने के प्रसंगों की कल्पना आप निश्चय ही नहीं कर सकेंगे। यदि लोग इस वस्तु को समझ लें, तो एक बहुत बड़ा काम हो जाय। क्योंकि जीवन में यदि यह भावना कायम हो जाय, तो उसका प्रभाव जीवन की हर क्रिया पर होगा। प्रतिदिन आधा

घण्टा, नियमित रूप से मौनपूर्वक और किसी निश्चित समय पर कातना एक ऐसी बात है, जिससे थोड़ा-बहुत सारे जीवन पर नियन्त्रण हो जाता है। हमारी सत्य-निष्ठा पर भी उसका बड़ा अच्छा परिणाम होगा। और यदि ऐसा हुआ, तो उसका असर आसपास के लोगों पर भी जरूर होगा। लड़का कातने लगा, तो माता-पिता पर उसका असर हुए बगैर नहीं रहेगा। इसी प्रकार मित्रों पर भी होगा। यह है आत्मा की व्यापकता का सूत्र।

●

वैराग्ययुक्त निष्काम बल : १४ :

मेरे बालगोपालो,

आपके खेल देखकर आनन्द हुआ। आपके हाथों देश का भविष्य है। आपने अभी जो खेल बताये, इनका उद्देश्य क्या है? शक्ति प्राप्त करना। शक्ति किसलिए? गरीबों की रक्षा के लिए। गरीबों की सहायता के लिए। शरीर को बलवान् बनाते हैं काम के लिए। चाकू की धार तेज किसलिए करते हैं? इसलिए नहीं कि पड़े-पड़े वह जंग खा जाय, बल्कि इसलिए कि हम उससे काम ले सकें। इसी प्रकार शरीर को भी हम इसलिए तेज बनाते हैं कि वह मजबूत और फुर्तीला हो। लक्ष्य यह कि दूसरे की सेवा में हम उसे लगा सकें। बल सेवा के लिए है।

गीता में भगवान् ने कहा है कि बलवानों का वैराग्ययुक्त निष्काम बल मैं हूँ। इन शब्दों पर जरा ध्यान दें। केवल बल नहीं कहा। वैराग्ययुक्त निष्काम बल कहा। इस वैराग्ययुक्त निष्काम बल को ही हम व्यायामशालाओं में स्थापित करते हैं। कौन-सी यह मूर्ति है? हनुमान् की पवित्र और सामर्थ्यशाली मूर्ति! हनुमान् वैराग्ययुक्त निष्काम बल की प्रतिमा थे। इसीलिए वाल्मीकि ने उनका गुणगान किया है। रावण भी तो महाबलवान् था। परन्तु उसके पास वैराग्य न था। रावण का बल भोग के लिए था। दूसरों को सताने के लिए था। वह पहाड़ों को उठाता, वज्र को चूर-चूर कर देता। उस अकेले के शरीर में मानो दस आदमियों का बल था। इसीलिए उसके दस सिर और बीस भुजाएँ बतायी गयी। इतना सब होने पर भी उसका बल मिट्टी में मिल गया। किन्तु हनुमान् का बल अजर-अमर हो गया। वाल्मीकि

ने बल के ये दो भिन्न-दो मूर्तियाँ हमारे सामने खड़ी कर दी हैं। रावण के बल में भोग-वासना थी। वह बल के द्वारा भोग प्राप्त करना चाहता था और हनुमान्‌जी सेवा। सेवा को अर्पित बल टिकेगा, अमर हो जायगा। भोग-प्राप्ति में लगा बल धूल में मिल जायगा, अपने और संसार के नाश का कारण बनेगा।

समुद्र के किनारे सारी वानर-सेना बैठी थी। चर्चा चल रही थी कि लंका में कौन जाय। हनुमान्‌जी एक तरफ बैठे राम-राम जप कर रहे थे। जाम्बवान् उनके पास गये और पूछा : "हनुमान्, तुम जाओगे ?" हनुमान्‌जी ने कहा : "आपके आशीर्वाद से चला जाऊँगा।" वे अकेले किसकी हिम्मत पर उन बलवान् राक्षसों के बीच निर्भय हो चले गये ? हनुमान् से जब यह पूछा गया, तो उन्होंने क्या उत्तर दिया ? क्या यह कहा कि मैं अपने गट्टे के बल, अपने बाहु-बल पर आया हूँ ? नहीं। उन्होंने कहा : "मैं रामजी के बल पर आया हूँ। मेरे अन्दर कितना बल है, मैं नहीं जानता। हाँ, रामजी का बल मेरे पास अवश्य है।" फिर, बाहुबल का भी अर्थ क्या है ? जरा गहराई के साथ सोचिये। बाहुबल यानी शरीर-श्रम करने की शक्ति। इसके लिए भगवान् ने हमें ये हाथ दिये हैं। सेवा के लिए हमें हाथ हैं। पशुओं के हाथ नहीं हैं। बाहुबल द्वारा अन्न पैदा करें। सेवा करें। इस शक्ति का देनेवाला कौन है ? वह बल किसका ? हनुमान्‌जी जानते थे कि यह शक्ति आत्मा की है, रामजी की है।

जिसे बल की आत्मा पर, रामजी पर श्रद्धा नहीं, वह निकम्मा है। अमृतसर में हत्याएँ हुईं। उसके बाद लोगों के दिलों को कुचलने के लिए डायर ने वहाँ लोगों को रेंगकर जाने के लिए मजबूर किया। पहाड़ों के-से पंजाबी लोग ! उनके वे हट्टे-कट्टे और मजबूत शरीर ! फिर भी वे रेंग-रेंगकर चलने लगे। कारण, राम पर श्रद्धा न थी। वे आत्मा की निर्भयता को नहीं जानते थे। आज बंगाल की भी यही

कहानी है। जनता पर चाहे जैसे बन्धन लगाये जाते हैं। रास्ते से फौज जा रही हो, तो उसे सलाम करने के लिए लोगों को जाना पड़ता है। क्यों? आत्मा की निर्भयता का भान नहीं। राम के बल को पहचाननेवाला कलिकाल से नहीं डरता। निरा बल बल नहीं। वह आत्मश्रद्धा पर प्रतिष्ठित होना चाहिए। निर्बल में भी आत्मश्रद्धा से बल आ जाता है। उपनिषद् कहती है कि जो निष्ठावान् है, जिसमें श्रद्धा का बल है, वह हजारों को धूजा देता है। इसलिए आध्यात्मिक बल की उपासना करनी चाहिए।

हनुमान्‌जी में केवल पशु का बल नहीं था। उनके बारे में जो श्लोक* है, उसमें अन्य सभी बलों का वर्णन है, लेकिन शरीर-बल का कहीं उल्लेख नहीं है। हनुमान्‌जी मन और वायु के समान वेगवान् थे, जितेन्द्रिय थे, अत्यन्त बुद्धिमान् थे, वानरों के मुखिया थे, रामदूत थे, यह सब कहा है। वे बल के देव माने गये हैं, किन्तु इस स्तुति में शरीर-बल का कहीं उल्लेख भी नहीं है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? वास्तव में इन गुणों का अर्थ ही सच्चा बल है। सच्ची कार्य शक्ति इन्हीं गुणों में है।

मनुष्य के शरीर में वेग चाहिए, स्फूर्ति चाहिए। मन के समान वेग चाहिए। काम सामने आते ही उछलकर आगे बढ़ना चाहिए। सिंहगढ़ पर चढ़ाई करने के लिए जाने का सन्देश मिलते ही तानाजी निकल पड़ा। नहीं तो मन में सेवा है, पर शरीर जहाँ-का-तहाँ आलस में पड़ा है, तो वह किस काम का? ज्ञानदेव ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। सेवक कैसा होना चाहिए? कहते हैं: **'आंग मनापुढे घे दौड़ा'** 'मन के आगे तन दौड़े।' मन में विचार आते ही शरीर दौड़ने लग जाना चाहिए।

---

* 'मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेंद्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये॥'

शरीर में ऐसा वेग तब आयेगा, जब आदमी जितेन्द्रिय होगा। संयमी होगा। संयम के बगैर वेग नहीं आ सकता। फिर संयम और वेग हो, पर बुद्धि अधूरी हो, तो भी काम नहीं बनेगा। इसलिए बुद्धि भी चाहिए। कर्म-कुशलता, कल्पनाशक्ति और प्रतिभा भी चाहिए। जितना बताया, उतना कर दिया, यही काफी नहीं है। इसके अतिरिक्त भगवान् की सेवा की भावना भी होनी चाहिए। भगवान् जहाँ भेजें, वहाँ जाने के लिए सदा तैयार रहें।

भारत के करोड़ों देव आपसे सेवा चाहते हैं। उन्हें इसकी जरूरत है। इसके लिए तैयार हो जायें। युवक बुद्धिमान्, संयमी और सेवा के प्रेमी बनें। शरीर-बल प्राप्त करें और प्रेम भी हासिल करें। थोड़ी देर पहले व्यायामशाला के अखाड़े में मैंने कुश्तियाँ देखीं। इनमें से एक कुश्ती में एक हरिजन और एक ब्राह्मण था। इसमें मैंने समभाव पाया। इसी समभाव से हम आगे भी रहें, तो समाज बलवान् बनेगा। इसी प्रकार खेलों में हम समभाव का पोषण करते रहें, तो इन खेलों, कुश्तियों से कल्याण होगा।

खेलों में हम समभाव सीखते हैं। व्यवस्था और अनुशासन का महत्त्व सीखते हैं। इन खेलों के अलावा दूसरे भी अच्छे खेल खेले जा सकते हैं। खेत खोदना भी एक खेल ही है। सब एक साथ कुदालें ऊपर उठती हैं, एक साथ जमीन में घुसती हैं, यह भी मजेदार दृश्य होगा। उसमें आदर्श व्यायाम भी होगा। उसमें बुद्धि के लिए भी स्थान है। व्यायाम में बुद्धि को भी काम मिलना चाहिए। इसलिए मैं समझता हूँ कि व्यायाम भी कुछ-न-कुछ उत्पादक हो।

इन खेलों से आपमें शक्ति और प्रेम दोनों उत्पन्न हों। इसमें सब प्रकार के सब जातियों के विद्यार्थी एकत्र होते और खेलते हैं। इससे प्रेम बढ़ता है। इनकी याद भावी जीवन में बड़ा काम देती है। हम सब एक साथ खेलते थे, कुश्तियाँ लड़ते थे, एक साथ तैरते थे,

हमने एक साथ शक्ति, सामर्थ्य और ज्ञान संपादन किया—ये सारे संस्मरण आपको फिर एक-दूसरे के नजदीक लाने में सहायक होंगे। इससे आपकी संघशक्ति और सहकार्य बढ़ेगा।

ये आपने गणवेष (वर्दी) धारण किये हैं। इनका उद्देश्य भी आत्मीयता बढ़ाना ही है। किन्तु यह वेश खादी का ही बनवायें। ये कमरपट्टे मरे हुए जानवरों के चमड़े के हों। हर बात में दक्षता होनी चाहिए। बूँद-बूँद से घड़ा भरता है। राष्ट्र में सर्वत्र छेद पड़े हैं। देश की सम्पत्ति लगातार बाहर जा रही है। इस ओर ध्यान दें।

व्यायाम तो करते हैं, परन्तु इसके साथ दूध और रोटी नहीं मिलती, तो कैसे काम चलेगा ? दूध पीना है तो गोरक्षा होनी चाहिए। गोरक्षा के लिए मृत (मारे हुए नहीं) गाय-बैलों के चमड़े की बनी वस्तुएँ ही काम में लेनी चाहिए। रोटी चाहिए, इसलिए किसान को भी जिलाना चाहिए। खादी पहनकर उनकी कुछ मदद करेंगे, तो वे जी सकेंगे और हमें रोटी मिलती रहेगी। आपको घर पर यदि रोटी नहीं मिलती, तो क्या इतनी उछलकूद बन पाती ? घर पर रोटी तैयार है, इसका विश्वास है, तभी तो यहाँ इतनी उछलकूद मचा रहे हैं। यह शक्ति अन्न से मिलती है। इसीलिए उपनिषद् में अन्न को बल से भी बड़ा बताया गया है—'अन्नं वाव बलाद् भूय.' अर्थात् अन्न बल से श्रेष्ठ है। यदि राष्ट्र में अन्न न हो, तो बल कहाँ से आयेगा ? सबसे पहले अन्न की व्यवस्था हो, उसके बाद अखाड़ों की बात। पहले अन्न, बाद में ज्ञान दान की बात।

एक समय भगवान् बुद्ध का एक प्रचारक घूम रहा था। उसे एक भिखारी दिखा। प्रचारक उसे धर्म का उपदेश करने लगा, पर भिखारी ध्यान नहीं दे रहा था। उसका मन ही नहीं लग रहा था। प्रचारक बिगड़ उठा। वह बुद्ध के पास गया और बोला : 'वहाँ एक भिखारी है, उसे मैंने कितनी अच्छी-अच्छी बातें सुनायीं,

पर वह एक नहीं सुनता।' बुद्ध भगवान् ने कहा : 'उसे मेरे पास ले आओ।' प्रचारक भिखारी को वहाँ ले आया। भगवान् बुद्ध ने उसकी अवस्था देखी, तो भूखा मालूम पड़ा। इसलिए उन्होंने उसे भरपेट खाना खिला दिया और कहा : 'अब तू जा।' यह देख प्रचारक ने पूछा : 'आपने उसे खाना खिला दिया, पर उपदेश तो कुछ भी नहीं दिया!' भगवान् बुद्ध ने कहा : 'आज उसे अन्न मिल गया, यही उसके लिए उपदेश है। आज उसे सबसे अधिक जरूरत अन्न की थी। इसलिए वही उसे पहले दिया। अब वह जियेगा, तो कल हमारी बात भी सुनेगा।'

आज हमारे राष्ट्र की हालत भी ठीक ऐसी ही है। आज राष्ट्र में अन्न ही नहीं है। समर्थ रामदास के युग में विपुल अन्न था। भारत की सम्पत्ति का स्रोत आज की भाँति तब सूख नहीं गया था। इसलिए उन्होंने प्राण की और बल की उपासना सिखायी। आज गाँवों में केवल अखाड़े खोलने से काम नहीं चलेगा।

अन्नोत्पत्ति और गो-सेवा ये दो चीजें होंगी, तभी राष्ट्र का संवर्धन होगा। बलवान् युवकों को राष्ट्र में अन्न और दूध खूब पैदा करना चाहिए। हिन्दुस्तान को पुनः गोकुल बनाना है। इसलिए खादी का गणवेष और मरे गाय-बैलों के चमड़ों के बने कमरपट्टे बाँधकर अन्नोत्पत्ति और गो-पालन में मदद कीजिये।

' आप खाकी वर्दी पहनते हैं। परन्तु यह वर्दी पहनकर गरीबों के पेट पर पाँव न रखें। ये कवायतें आप गरीबों की रक्षा के लिए सीख रहे हैं, लेकिन गरीब जिन्दा रहेंगे तभी तो आप उनके प्राणों की रक्षा कर सकेंगे। आप खाकी कपड़े पहनकर पैसे बाहर भेजेंगे, तो गरीब भूखों मरेंगे। तब किनकी रक्षा करेंगे? आप विदेशों में पैसे भेजकर गाँववालों से दूध-रोटी माँगेंगे, तो वे बेचारे कहाँ से लायेंगे? इसलिए यदि खाकी ही पहननी है, तो खाकी खादी पहनें। और यदि खाकी खादी न मिल पाती हो, तो केवल खादी

खादी ही पहनें। खाकी को छोड़ दीजिये। खाकी के बगैर हमारा काम नहीं रुकेगा।

सब धर्मों के विषय में उदार भावना रखें। सच्चा मातृभक्त सभी माताओं को पूज्य मानता है। अपनी माँ की वह सेवा करेगा, पर दूसरों की माँ का भी आदर करेगा। हर मनुष्य का पोषण अपनी माँ के दूध से होता है। धर्म माँ के समान है। मेरी धर्म-माता मुझे प्रिय है। मैं मातृपूजक हूँ। इसलिए दूसरे की माँ की निन्दा तो कभी नहीं करूँगा। उलटे उसकी भी वन्दना करूँगा।

मन में भक्ति होगी, तो यह भाव पैदा होगा। सच्ची भक्ति जागेगी, तो यह सब अपने-आप हो जायगा। इसलिए बाहरी कसरत के साथ-साथ भीतरी उपासना भी होनी चाहिए। व्यायाम की सहायता से शरीर को सुघड़ और बलवान् बनाकर आत्मा के सिपुर्द कर दें। शरीर आत्मा का औजार, हथियार है। हथियार सदा काम के लायक रहे, इसलिए उसे स्वच्छ भी रखना चाहिए। शरीर को स्वच्छ कर आत्मा को सौंप दो। अन्तर्बाह्य पवित्र होइये, जैसे कि ये हनुमान्‌जी हैं। बलवान् और भक्तिमान्, वे सदा सेवा के लिए खड़े हैं। आप भले ही शरीर से जवान हों, पर यदि सेवा के लिए आपका शरीर तत्काल तैयार नहीं, तो आप बूढ़े ही हैं। जिसके शरीर में वेग है, वह जवान है, फिर उसकी उम्र कुछ भी हो। हनुमान्‌जी कभी वृद्ध हुए ही नहीं। वे चिरतरुण हैं, चिरंजीव हैं।

आप भी ऐसे चिरतरुण बनें। आपको लम्बी आयु मिले और उम्र में आप वृद्ध हो जायँ, तब भी उत्साह से जवान ही रहें। वेग को कायम रखें। बुद्धि को ताजा रखें। इस प्रकार तन्मय बुद्धि से जनता की और उसके द्वारा परमेश्वर की सेवा में हमारे युवक लग जायँ, यही परमात्मा से मेरी प्रार्थना है।

—खानदेश के दौरे के अवसर पर धूलिया की विजय-व्यायामशाला में दिये गये प्रवचन का महत्त्वपूर्ण अंश।

राष्ट्र के लिए त्याग : कितना और क्यों ? :१५:

* मित्रो, धूलिया आने पर लगता है कि अपने घर ही आया हूँ। क्योंकि यहाँ प्रेम से काम करनेवाले, शुद्ध हृदयवाले कुछ लोग हैं। परन्तु यह तो एक कारण हुआ। और भी एक कारण है। तीन वर्ष पहले मैं यहाँ आया था। यहाँ की जेल में छह महीने रहने का अवसर मिला। जेल तो हम जैसों के लिए घर ही है। वे छह महीने बड़े आनंद में बीते। जितने भी लोग वहाँ थे, सबको लगा कि इतने अच्छे छह महीने जीवन में कभी नहीं देखे।

धूलिया में मैंने बहुत-सी संस्थाएँ देखीं। हमारे देश में ऐसे बहुत कम शहर हैं, जहाँ ऐसे ठोस काम करनेवाली इतनी संस्थाएँ हों। संस्था केवल पैसे से नहीं चलती। संस्था चलाने के लिए एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति लगती है। यह मनोवृत्ति कुछ अंशों में यहाँ है। उस वृत्ति का नाम क्या है? सोच-समझकर मैंने उसका नाम 'गुणारोपण-वृत्ति' रखा। जैसे कोई दोष-दृष्टि पुरुष सहज ही दूसरे पर दोषारोपण करता है और जब यह सिद्ध हो जाता है कि वह दोष उसमें नहीं, तभी लाचार हो उसे सच मानता है। गुणारोपण-वृत्ति ठीक इससे उलटी है। जब तक विपरीत बात सिद्ध न हो जाय, (बाधबुद्धि न हो), तब तक मनुष्य को गुण-सम्पन्न ही समझा जाय। ऐसी गुणारोपण-वृत्ति के बगैर संस्था चल नहीं सकती। वास्तव में जिसे 'आस्तिकता' कहते हैं, यही है।

हम घर में एक-दूसरे का खयाल रखते हैं। यही बात राष्ट्र के शासन-प्रबन्ध में भी होनी चाहिए। दोष पीकर और गुणों पर जोर

* सन् १९३३-'३४ में धूलिया में दिये गये एक प्रवचन का मुख्य अंश।

देना चाहिए। घर के व्यवहार मे जिस वृत्ति को हम उपयोगी मानते हैं, वह सामाजिक व्यवहार मे अनुचित कैसे होगी ? घर में उदारता, प्रेम, सहानुभूति और सहयोग आवश्यक है। सामाजिक व्यवहार में भी इन्ही गुणों की जरूरत है। जो न्याय परिवार में, वही बाहर भी। जिस रीति और जिस वृत्ति से हम पारिवारिक समस्याओं को हल करते हैं, उसी रीति और उसी वृत्ति से देश और संसार की समस्याएँ भी हल करनी चाहिए। इसके लिए गुणारोपण-वृत्ति अत्यावश्यक है। यह वृत्ति कुछ मात्रा मे धूलियावालों में है। इसी कारण यहाँ कुछ संस्थाएँ चल रही हैं। फिर भी मुझे कबूल करना होगा कि इतने से मुझे सन्तोष नहीं है।

कुछ लोग सरल भाव से महात्मा गाधी पर यह आक्षेप करते हैं कि वे लोगों से बहुत अधिक अपेक्षा रखते हैं। वे मनुष्य-स्वभाव को अच्छी तरह नहीं जानते, मनुष्य से उसकी शक्ति से अधिक त्याग की वे माँग करते हैं। नेता को इस प्रकार जनता की शक्ति से अधिक माँग नहीं करनी चाहिए। शक्ति से परे जनता को नहीं तानना चाहिए, शक्ति से परे उनसे त्याग की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए, आदि-आदि। मैं नहीं कहता कि उनका ऐसा कहना गैर है। जैसा लगता है, सीधे कह देते हैं। किन्तु हमें इस पर जरा गहराई से विचार करना चाहिए।

मनुष्य कितना त्याग कर सकता है, इसका परिवार में पता चलता है। अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तो ज्ञात होगा कि मानव अपने परिवार के लिए चोटी का—आत्यन्तिक—त्याग किया करता है। आत्यन्तिक त्याग के उदाहरण छोड़ दें, तो भी साधारणतः परिवार कुछ नियत त्याग प्रत्येक से माँगता ही है। पुरखों से चले आनेवाले कुलधर्मों को ठीक-ठीक चलाने और पूर्वजों से प्राप्त गुण-सचय का विकास करने के लिए परिवार में जितना त्याग करना पड़ता है, उसकी तुलना मे गाधी द्वारा हमसे माँगा जानेवाला त्याग कुछ भी नहीं है। आप

जरा गहराई से सोचिये, तब आपको पता चलेगा कि आप अपने कुटुम्ब के लिए कितना करते हैं और उसके मुक़ाबले में गांधीजी आपसे राष्ट्र के लिए कितना माँगते हैं।

किन्तु इस प्रकार शायद हर आदमी गहराई मे नहीं सोच सकता। इसलिए इस निरीक्षण को छोड़ दें। सूक्ष्म निरीक्षण को छोड़ दें। व्यापक दृष्टि से देखें। हम पाँच हजार मील दूर जाकर देखें और पाँच हजार वर्ष पीछे जाकर देखें।

पहले हम दूर चलें। बीस वर्ष पहले यूरोप में महायुद्ध छिड़ा। वह चार वर्ष चला। अत्यन्त हिसाबी और व्यवहार-पटु दिमागवाले लोग इसके सञ्चालक थे। वह युद्ध शंकराचार्य के शिष्यों ने अद्वैत की स्थापना के लिए नहीं छेड़ा था। बल्कि वह सकाम और स्वार्थप्रिय लोगों की उठान थी। उस युद्ध के समय जर्मनी की आबादी छह करोड़ मान लीजिये। जर्मनी ने लगभग एक करोड़ सैनिक खड़े किये। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत अपनी छत्तीस करोड़ की आबादी में से उसका छठा हिस्सा अर्थात् छह करोड़ सैनिक भी सविनय कानून-भंग की लड़ाई के लिए खड़ा करता, तो भी वह त्याग मनुष्य स्वभाव और मनुष्य शक्ति की दृष्टि से परे नहीं कहा जाता।

भारत में जो कानून भंग की लड़ाई हुई, उसमें भाग लेनेवाले लोगों का हिसाब लगाया जाय, तो कह सकते हैं कि उसमें अधिक-से-अधिक डेढ़ लाख लोगों ने भाग लिया। किन्तु जर्मनी की सैनिक संख्या के हिसाब से हमें छह करोड़ आदमी खड़े करने चाहिए थे। महात्माजी के झण्डे के नीचे तो कुल डेढ़ लाख लोग एकत्र हुए। क्या यह त्याग मनुष्य की शक्ति से परे है?

जाहिर है कि जर्मनी के त्याग के सामने हमारा त्याग कुछ भी नहीं है। उससे इस त्याग की तुलना ही नहीं हो सकती। कुछ

आदमी गोलियों से मरे, कुछ लाठी-चार्ज में घायल हुए और कुछ को जेलों में कष्ट उठाने पड़े। मान लें कि इनकी संख्या दस हजार थी। फिर भी कहना होगा कि जर्मनी के त्याग के सामने हमारा यह त्याग कुछ भी नहीं। जर्मनी का त्याग यदि मनुष्य-स्वभाव के अनुरूप है, तो महात्मा गांधी द्वारा हमसे माँगा जानेवाला त्याग मनुष्य-स्वभाव के परे कैसे ?

एक तरफ तो आप भारतीय संस्कृति पर अभिमान करते हैं। मानते हैं कि भारतीय संस्कृति महान् और श्रेष्ठ है। कहते हैं कि हमारी संस्कृति सबसे पुरानी है। हमारे अन्दर अनेक ऋषि-मुनि, साधु-सन्त और वीर पुरुष हो गये हैं। यहाँ ब्रह्म-विद्या का निर्माण हुआ। आप मानते हैं कि हमारी संस्कृति उदार, सुन्दर, यज्ञ-प्रवण और स्वर्गीय है। परन्तु आपका त्याग जर्मनी के त्याग का दो सौवाँ हिस्सा भी नहीं। फिर भी कहते हैं कि यह त्याग मनुष्य-शक्ति से परे है। धन्य है आपको !

मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि स्वराज्य के लिए हमने जो त्याग किया है, वह अत्यन्त अल्प है। राष्ट्र के लिए क्या क्या करना पड़ता है, इस विषय में जर्मनी का ताजा उदाहरण हमारे सामने है। जर्मनी की तरह ही फ्रांस आदि दूसरे राष्ट्र भी हैं। हाँ, उनका यह त्याग कोई बहुत उदात्त ध्येय के लिए नहीं था। उसकी जड़ में लोभ था। फिर भी उन्होंने इतना त्याग किया। फिर हमें अपनी स्वतन्त्रता के लिए और वह भी सत्य के मार्ग से प्राप्त करने के लिए— इतने उदात्त और भव्य ध्येय के लिए कितना अधिक त्याग करना चाहिए था ? ऐसी ऊँची संस्कृति के अभिमानी इतने उदात्त ध्येय के लिए जितना भी त्याग करते, सार्थक ही होता। अनेक पुश्तों तक हमारा गुणगान होता। इतना सुन्दर है यह ध्येय ! किन्तु उसके लिए महात्माजी ने हमसे जो थोड़ी-सी माँग की, वह भी हमें बहुत अधिक मालूम पड़ी !

समस्त संसार में हम अपने को बड़ा ऊँचा मानते हैं। अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ और अपने पूर्वजों को महान् बताते हैं। इस सारे अभिमान को लेकर हम किस मुँह से कह सकते हैं कि हमने बहुत अधिक त्याग कर दिया ? पवित्र ध्येय के लिए किया गया त्याग मनुष्य के स्वभाव और शक्ति से परे हो गया ?

यह तो पाँच हजार मील दूर मनुष्य के त्याग का माप हुआ। अब पाँच हजार वर्ष पीछे जाकर देखें। मीलों से दूर गये, अब वर्षों से पीछे चलें।

हिन्दू-धर्म की रचना करनेवाले विचारशील पुरुषों ने तय किया कि औसत रूप से चार आदमियों में एक वानप्रस्थ हो। चार मनुष्यों में से एक मनुष्य देश की, समाज की सेवा करे। इस बात को सब स्मृतियों ने मान्य किया है। वे सब मानती हैं कि वानप्रस्थ एक अच्छा शिक्षक होता है। देश की नयी पीढ़ी का निर्माण करने के लिए त्यागी, अनुभवी, तपस्वी पुरुष होने चाहिए। इसीलिए स्मृतिकारों ने वानप्रस्थ संस्था का निर्माण किया। यह योजना कभी तो कार्यान्वित अवश्य हुई होगी। खैर, हम वानप्रस्थ का $\frac{1}{4}$ का अनुपात छोड़ दें, $\frac{1}{10}$ ही लें। और उससे भी कम—आधा मान लें और $\frac{1}{20}$ पकड़ें, तब तो वह निश्चय ही अधिक नहीं माना जायगा। इस हिसाब से यदि धूलिया की आबादी चालीस हजार की है, तो वहाँ दो हजार वानप्रस्थ—सेवक—होने चाहिए।

मान लें कि उपनिषदों के ऋषि व्यवहार का ध्यान रखकर नहीं बोलते। किन्तु मनु तो व्यवहार को जाननेवाले पुरुष थे न ? व समाज शास्त्री थे। उन्होंने समाज के लिए धर्म की रचना की। इस धर्म-रचना में वे आपसे क्या अपेक्षा रखते हैं ? व्यावहारिक बातें बोलनेवाले उसी ऋषि ने धूलिया से दो हजार सेवकों की अपेक्षा की है। महात्मा गांधी आपसे जिस त्याग की अपेक्षा करते हैं, उसे आप

अव्यवहार्य और मनुष्य की शक्ति से परे का बताते हैं। तब यह धर्मशास्त्रकार जो माँग कर रहा है, क्या वह भी अस्वाभाविक ही है? वह ऋषि स्वप्न सृष्टि में विचरण करनेवाला पागल नहीं था। वह मनुष्य-स्वभाव को जानता था। मनु आदि पूर्व ऋषियों ने ऐसे त्याग की माँग की। आज भी विदेशों के लोग कितना त्याग करते हैं, यह हम देख चुके हैं। इस प्राचीन और अर्वाचीन त्याग के मुकाबले में हम अपने त्याग को रखें, तो पता लगेगा कि हम जो आन्दोलन चला रहे हैं, वह 'चळवळ' (आन्दोलन) है या राजवाड़े के शब्दों में 'वळवळ' (रेंगना) है।

मैं आपको उलाहना नहीं दे रहा हूँ। उलाहना किसे दूँ? 'आपुला चि वाद आपणाशीं' अपने ही होंठ और अपने ही दाँत! धूलिया में दो चार संस्थाएँ हैं, इस पर क्या मैं खुशी मनाऊँ? कल गोरक्षा की एक संस्था खुली, इसलिए क्या आनंद मानूँ? या हरिजन विद्यार्थियों के लिए एक जैसा-तैसा छात्रालय खुला है, उसकी देखभाल करने के लिए एक दो आदमियों को छोड़कर और किसीको समय निकालने की जरूरत नहीं मालूम देती, इस पर अभिमान करूँ? हमारे पूर्वजों ने युद्ध किये, पराक्रम किये, उस सम्बन्ध के कागजातों, चिन्दियों की रक्षा करनेवाली एक संस्था यहाँ है, उसका अभिमान करूँ?

'राजवाड़े-स्मारक' मन्दिर के उद्घाटन के अवसर पर तीन वर्ष पूर्व मैं यहाँ आया था। पाँच मिनट बोला। अधिक बोलने का न समय था और न प्रसंग। किन्तु उस समय मैंने कहा था कि अंग्रेज इतिहासकार आपके पूर्वजों को नालायक कहते हैं, इस पर आपको बड़ा बुरा लगता है। पर अन्वेषकों को इतना बुरा क्यों लगना चाहिए? जरा समता धारण कीजिये, नाराज न होइये। अंग्रेज इतिहासकार हमारे आज के कामों को देखकर हमारे पूर्व इतिहास की परीक्षा करेगा। फल से पेड़ की परीक्षा होती है। भारत के इतिहास को हमारे जैसे नादान फल लगते हैं, तो अंग्रेज इतिहासकार क्या

कहेंगे ? फल यदि कड़ुआ है, तो निश्चय ही बीज में ही कोई दोष होना चाहिए। आज स्वराज्य प्राप्त कीजिये, उसके लिए त्याग कीजिये, तो आपके मुख उज्ज्वल होंगे। पूर्वजों के इतिहास भी उज्ज्वल हो जायँगे। हमारा आज का व्यवहार हमारे पूर्वजों के मुँह पर कालिख पोत रहा है। केवल इतना कहने से काम नहीं चल सकता कि हमारी संस्कृति उदार, उज्ज्वल और महान् है। वह प्रत्यक्ष दिखनी भी चाहिए। आप जबान से कहेंगे *'नायं हन्ति न हन्यते'*, किन्तु प्रत्यक्ष कृति में तो *अयं हन्ति अयं हन्यते ही दिखाई दे रहा है।* आप हरिजनों को पीटते हैं और दूसरों की लातें खाते है। ऐसे पशुवत् व्यवहार से इतिहास उज्ज्वल कैसे होगा ? जब तक हम आज का इतिहास नहीं बदलते, तब तक पुराने कागजों को आप चाहे कितने ही सँभालकर रखिये, वे जले हुए के समान ही हैं। यदि अपने इतिहास को उज्ज्वल करना है, तो आज का अपना बर्ताव शुद्ध कीजिये, उज्ज्वल कीजिये। यदि हम वर्तमान को उज्ज्वल बना लेंगे, खूब त्याग करेंगे, ध्येय-निष्ठा प्रकट करेंगे, तो यदि पुराने सारे कागजात नष्ट हो जायँ—केवल मराठों के पराक्रम के ही नहीं, वेदों और उपनिषदों के भी सारे कागज फट जायँ, एक-एक अक्षर उड़ जाय—फिर भी हमारा पिछला इतिहास उज्ज्वल सिद्ध हो जायगा। संसार यही कहेगा कि इस तेजस्वी, त्यागी, पराक्रमी उज्ज्वल राष्ट्र का इतिहास और परम्परा भी निश्चय ही उज्ज्वल होनी चाहिए। भूतकाल के इतिहास को उज्ज्वल करने का एकमात्र उपाय वर्तमान को उज्ज्वल बनाना है। समर्थ रामदास कहते हैं : 'सांगे वडिलांची कीर्ति, तो एक मूर्ख।' अर्थात् जो अपने पुरखों की बड़ाइयाँ गाता है, वह भी एक मूर्ख है। इसका मतलब भी यही है। मूर्खता के इस एक प्रकार का उल्लेख कर उसे मिटा देने का समर्थ ने अटूट प्रयत्न किया। पठित मूर्खता न रहे। कुछ ग्रामीण मूर्ख होते हैं, तो कुछ शहरी मूर्ख। कुछ पढ़-लिख-कर भी मूर्ख होते हैं, तो कुछ पढ़ लिख न सकने से मूर्ख रह

जाते है। किन्तु समर्थ रामदास के कथन का असली मतलब यह है कि इनमे सबसे दयनीय वे हैं, जो पढ़-लिखकर भी मूर्ख ही रह जाते हैं। केवल पुरखों की बड़ाई के गीत गाते हुए न बैठिये। मनुष्य को स्वयं पराक्रम करना चाहिए। समर्थ ने इतना प्रयत्न किया, पर अपने पुरखों की बड़ाई के गीत गाकर अपने को बड़ा बताने की मूर्खता हम अभी तक छोड़ नहीं पाये है। पूर्वज तो चले गये और आप रह गये हैं। आपने क्या किया, यह बताइये। आप खुद तो गोल-गोल चक्कर काट रहे हे और जबान से बड़े-बूढ़ों के यशोगान कर रहे हैं। मैं समझ नहीं पा रहा था कि शून्य बताने के लिए वर्तुल की योजना क्यों की गयी, चौकोन क्यों नहीं पसन्द किया गया। परन्तु आज की हमारी यह स्थिति देख अब वह समझ में आ रहा है। पुरखों के पराक्रमों का वर्णन करने का फल क्या पाया ? उत्तर है शून्य। समर्थ ने ऐसे कर्तृत्वशून्य लोगों की पठित मूर्खों मे गणना की है।

हम कुछ पुरुषार्थ करें, हमारा इतिहास उज्ज्वल हो और उसकी आभा से हमारी प्राचीन भव्य संस्कृति तेजस्वी हो, इसीलिए तो महात्माजी हमसे त्याग की माँग कर रहे है। उन्होंने बहुत ही कम त्याग माँगा है। उनका दावा है कि अहिंसा के बल पर थोड़ा त्याग भी बहुत बड़ा फल लायेगा। दूसरे देशों के नेता जितने त्याग की माँग करते हैं, उसके मुकाबले में यह कुछ नहीं है। आप यह नहीं कह सकते कि इसमें मनुष्य पर बहुत बोझ पड़ जाता है। बल्कि सच तो यह है कि अपने त्याग से स्वयं आपको भी सन्तोष नहीं होगा।

हम गर्व से कहते हैं : 'दुर्लभं भारते जन्म'। परन्तु हमारी हालत क्या है ? दूसरे देशों के निवासियों की अपेक्षा क्या 'दुर्लभं भारते जन्म' कहनेवालों मे अधिक सेवा-वृत्ति, अधिक त्याग, अधिक प्रेम, अधिक ध्येय निष्ठा, अधिक निर्भयता और मृत्यु की भी परवाह न करने की वृत्ति अधिक नहीं होनी चाहिए ? या आप इसलिए 'दुर्लभं भारते जन्म' कहते हैं कि यहाँ हरिजनों के साथ पशुओं से भी बुरा व्यवहार करते

बनता है, यहाँ भेदभाव, ऊँच-नीच भरा पड़ा है, मृत्यु का भय इतना है कि जितना ससार में कहीं भी नहीं है, गुलामी से घृणा नहीं आती, स्वदेशी धर्म की परवाह नहीं, उद्योग पूजा नहीं जाता और एकता तथा विशाल दृष्टि का अभाव है ? किसी भी दृष्टि से देखिये, यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि हमारी आज की हालत बड़ी ही भयानक है। अपनी यह दशा देख हमें दु:ख और सताप होना चाहिए। तो फिर क्या आप समाधान मानेंगे ? यहाँ गिनती की दो-चार सस्थाएँ खड़ी कर सन्तोष मान लेंगे ? भले ही आप मानें, पर मैं नहीं मानने दूँगा। क्या दो चार सेवक काम करें और शेष सब हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें ? सार्वजनिक कामों में हरएक को भाग लेना चाहिए। हर आदमी को अपनी शक्ति, बुद्धि और धन का कुछ भाग सार्वजनिक सेवा में लगाना चाहिए। नेपोलियन इग्लैंड पर चढ़ाई करने जा रहा था। नेल्सन आँखों में तेल डालकर बैठा था। उसने राष्ट्र से क्या माँगा ? उसने कहा "इग्लैंड अपने हर नागरिक से अपेक्षा करता है कि वह अपने कर्तव्य का पालन करे। हरएक अपनी जिम्मेदारी को समझे। देश का भार हम प्रत्येक के सिर पर है और हमें उसे खुशी-खुशी उठा लेना चाहिए।" क्या आप समझते हैं कि उस समय इग्लैंड पर जितना बड़ा सकट आया था, उससे हमारा सकट किसी प्रकार भी कम है ? यह भरत भूमि अपने हर पुत्र से सेवा की अपेक्षा करती है। भारतमाता को प्रत्येक की जरूरत है। गर्भस्थ शिशु की ओर आशा-भरी दृष्टि डाल वह कह रही होगी 'और नहीं तो यह पैदा होगा, मेरे काम आयेगा, मेरे आँसू पोंछेगा और मेरी पराधीनता, दु:ख-दारिद्रय मिटायेगा।'

गोकुल पर सकट आया, तो भगवान् ने माँग की कि सब अपना-अपना हाथ बढ़ायें। सबके हाथ लगने चाहिए। फिर उनकी उँगली तो है ही। मनुष्य केवल भोगी हो, तो कैसे काम चलेगा ? उसे अपने आसपास की परिस्थिति का भी तो विचार करना चाहिए। देखिये,

पानी का स्वभाव कैसा होता है ! कुँए से एक बालटी निकालिये, तो वहाँ हुए गड्ढे को पाटने के लिए आसपास का पानी दौड़ पड़ता है और क्षणभर में पुनः समानता स्थापित हो जाती है। कुँए में पानी बढ़ता है, तो सब ओर से बढ़ता है और कम होता है, तो सब तरफ से कम होता है। किन्तु ज्वार के ढेर में ऐसा नहीं होता। उसमें से यदि आप दो-चार सेर अनाज निकालें, तो वहाँ का गड्ढा वैसा ही बना रहेगा। बहुत हुआ तो कुछ महात्मा दाने दौड़कर उस गड्ढे में कूद पड़ेंगे, पर शेष हठी दाने दौड़ नहीं आयेंगे। वे वैसे ही मजा देखते रहेंगे। मनुष्य समाज को पानी की तरह होना चाहिए।

हिन्दू-धर्म पुकार पुकारकर कहता है कि नर-देह दुर्लभ है। सतों ने भी कह-कहकर गला सुखा दिया कि मनुष्य की योनि मिली है, तो इसको कुछ सार्थक कर लो। **'सोनियाचा कलश। माजीं भरला सुधा-रस।'** अर्थात् सोने का कलश है और अन्दर सुधा रस भरा है। सोने-सी यह नर-देह हमें मिली और सो भी इन सन्तों की पुण्य भूमि मे। फिर भी आप इसकी क्या कीमत कर रहे हैं ? उस पानी के समान दूसरों की मुसीबत में उनकी मदद करने के लिए दौड़ पड़ेंगे, तो इस नर-जन्म की महिमा आप बनाये रखेंगे, यह कहा जायगा।

आप कहेंगे : "यह सच है कि हर आदमी को मदद करनी चाहिए। हर आदमी का काम है कि सार्वजनिक कामों में सहयोग दे। परन्तु समय खराब आ गया है। व्यापारियों का व्यापार नहीं चलता, किसानों की पैदावार नही होती। पैदावार हो भी तो वह बिकती नहीं। नौकरियों मे कोई दम नहीं रहा। तब क्या करें ?" इस पर मेरा कहना यह है कि खराब समय आने पर भी यदि घर में पाँच बच्चे हों, तो सब आपस में बाँटकर खाते हैं या नही ? इसी प्रकार सार्वजनिक सेवा को छठा बेटा मानिये और उसके हिस्से में जो आये, उसे भी दीजिये। समाज को अपने कुटुम्ब का एक अग ही मानिये। घर खर्च की अनेक मदों में से एक इसे भी मानें। **'दया करणें जे पुत्रासी।**

ते चि दासा आणि दासी।' अर्थात् अपने पुत्रों पर जैसी दया की जाती है, वैसी ही दया दास-दासियों पर भी करनी चाहिए। मनुष्य-समाज का यही सूत्र होना चाहिए।

खराब समय आने पर भी बाप अकेला तो नहीं खाता। सबको देता है। कम मिलेगा, पर सबको मिलेगा। अकेले खाना महापाप है। सुनिये, वह ऋषि क्या कहता है :

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः।
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं।
केवलाघो भवति केवलादी॥'

यदि तूने यह धन केवल अपने लिए एकत्र किया है, तो यह व्यर्थ है। तूने केवल अपने लिए यह सब अन्न लूट-खसोटकर इतने बड़े-बड़े भण्डार बनाये हैं। अरे, तूने ये भण्डार नहीं, यह अन्न एकत्र नहीं किया है। वह ऋषि कहता है, तूने अपनी मौत कमायी है मौत! वध इत् स तस्य। वह उसकी मौत—वध ही है। वह ऋषि खतरे की सूचना दे रहा है। उस छटपटानेवाले निःस्वार्थी ऋषि से बढ़कर हितैषी कौन है? उसमें आपके प्रति कितनी दया है? वह कह रहा है कि अगर आप अकेले खायेंगे, तो पाप के पुतले बनेंगे। आपके ये भरे भण्डार व्यर्थ हैं। वह तो आपने अपनी मौत को सँभाल उसके रखा है। जो दूसरों का पोषण नहीं करेगा, किसीकी मदद नहीं करेगा, उसके पास जो कुछ है, वह उसकी मौत ही है। जरा कान खोलकर सुनिये। रूस में उस ऋषि की वाणी सही सिद्ध हुई है। उन्हें अनुभव हो गया कि लोगों को न देकर संचय करना मौत को पास बुलाना है! आपको वेद पुकार-पुकारकर कह रहा है। श्रुतिमाता से बढ़कर विकलता से कौन कह सकता है!

शंकराचार्य कहते हैं कि यह श्रुतिमाता हजारों माता-पिताओं से अधिक हितैषिणी और कल्याणकारिणी है। वही श्रुति यह कह रही है। वेदों पर आपकी श्रद्धा है न? मैं वेदों का एक नम्र भक्त और

उपासक हूँ। आनेवाले खतरे की इतनी साफ-साफ और स्पष्ट शब्दों मे सूचना किस प्रेमी से आपको आज तक मिली ? मिलनेवाली थी ? ऋषि से अधिक प्रेमल और कौन हो सकता है ? रूस में जो कुछ हुआ, यदि वैसी बातें यहाँ होने लगें, तो आप शायद कहें कि हमें किसीने पहले से सावधान क्यों नहीं कर दिया ? परन्तु उस महान् ऋषि ने क्या आपको अत्यन्त प्रेमविह्वल होकर ऐसे खतरे की सूचना नहीं दी ? हजारों वर्षो से दे रखी है कि अकेले खाओगे तो मरोगे। केवल अपने लिए अन्न का सचय करना मौत का सचय करना है। समाजवाद में इससे अधिक नया क्या है ?

दूसरा भूखा मर रहा है जी-तोड़ श्रम करके भी भूखों मर रहा है, और आप अपने पास सचय करके रखते हे ! यह किसको सहन होगा ? ऋषि को यह सहन नहीं हुआ। अन्न पर के साँप बनकर मत बैठिये। आप खाइये और बचा हुआ दीजिये, किन्तु सग्रह करके न रखिये। समर्थ रामदास ने यही कहा है :

'आपण यथेष्ट जेवणें। उरलें तें वांटणें।
परंतु वायां दवडणें। हा धर्म नव्हे॥

अर्थात् आप पेटभर खा लें, जो बचे उसे बाँट दें, बेकार सग्रह करना धर्म नहीं है। समर्थ ने सीधी-सादी समझ की बात कही है। आप दूध पीजिये, पेटभर खाइये, किन्तु घर में सचय कर न रखिये। वेदों को भी यही सन्देश है। मनु ने भी यही कहा है और समर्थ भी यही कह रहे हैं। आपको ये सब पूज्य, प्रिय और मान्य हैं। उन्हींकी बात आपके सामने रखी है। पेटभर खा लीजिये, जो बचे, वह दूसरों को दीजिये। नागबाबा मत बनिये।

हर आदमी समाज को जरूर कुछ दे। इस नियम का पालन यदि वह करने लग जाय, तो समाज का कितना काम बनेगा ! महात्माजी नये-नये काम लगातार निकालते ही जा रहे हैं। हाल ही में उन्होंने

ग्रामोद्योग-संघ की स्थापना की है। गरीबों के धन्धे टूटते जा रहे हैं—कितने तो टूट भी गये। उनको फिर से चलाये बगैर गति नहीं। कोई कहता है, यह कल-युग—यंत्र-युग है। कोई कहता है, कलियुग है। अरे, युग तो वह होगा, जिसे आप निर्माण करेंगे। काल का निर्माण तो आपके हाथों है। कहते हैं, यन्त्र-युग आ गया! कैसी है रे यह तेरी श्रद्धा! पश्चिम-वालों ने कहा यंत्र-युग और तू ने उसे मान लिया? अजीब है तेरी यह श्रद्धा! अपना काल मैं बनाता हूँ। मैं ही काल हूँ। गीता में भगवान् कहते हैं: **'कालोऽस्मि'**—मैं काल हूँ। हम उस भगवान् के ही अंश हैं न? जीव ईश्वर ही का तो सनातन अंश है। अर्थात् आप भी काल-रूप हैं। काल को बनाना आपके हाथ में है।

गांधी ने दस वर्ष में चरखे को खड़ा कर दिखाया या नहीं? खादी की कहीं चिन्दी तक नहीं दीखती थी। अब सर्वत्र भण्डार खुल गये या नहीं? वह महापुरुष 'यह यन्त्र-युग है, कैसे होगा?' यों कहकर बैठ नहीं गया। निराकार काल को आकार देनेवाले आप! आप जैसा चाहेंगे, वह युग होगा। 'यन्त्र-युग है, कलियुग है' ये दोनों कल्पनाएँ भ्रामक हैं। कलियुग कहनेवाले को तो 'अन्धश्रद्धालु' समझ-कर आप हँसते हैं, पर पश्चिमवाले कल-युग कहते हैं, तो आप भी कहते हैं। काल हमारी इच्छा और प्रयत्न के अनुरूप बनेगा। काल को मोड़ने की सामर्थ्य तो आपके दृढ़ निश्चय में है।

महात्मा गांधी तो बिल्कुल सीधी-सादी बातें कह रहे हैं। वे कहते हैं: 'हाथ-पिसा आटा खाओ। गुड़ खाओ। वह पैसा गरीब किसान को मिलेगा।' समय रहते सावधान हो जाना चाहिए।

क्या मनुष्य की अन्तिम साँस पर ही उसकी मदद के लिए दौड़ेंगे? ऐसा न करें। जरा पहले ही उसके पास पहुँचिये। वह जिन्दा है, तब तक दौड़ धूप कीजिये। उनके धन्धों को सहारा दीजिये। उनकी बनायी चीजें खरीदिये।

जितना आपके बस में है, उतना तो करेंगे ? 'तुर्फे आहे तुज-पाशीं'—तेरा है तेरे पास में। सभी कुछ बाहर थोडे ही है ! गुड लो, घानी का तेल लो, हाथ का बना कागज लो। इस तरह गरीबों को अन्न मिलेगा। सम्पत्ति थोड़ी-बहुत गाँवों में पहुँचेगी। वह बँटेगी।

संपत्ति का नियम ही है कि उसका पड़ा रहना ठीक नहीं। वह खेलती रहे। एक जगह उसका ढेर न होने दीजिये। संपत्ति एक जगह सड़ने लगे, तो गन्दगी पैदा होगी। रोग पैदा होंगे। मौत फैलेगी। इसलिए सम्पत्ति का संचय न कीजिये। मुट्ठी जरा ढीली कीजिये। मैं यह नहीं कहता कि आलस्य को पोसें। गाँवों की चीजें लें। थोड़ी महँगी पड़े तो भी सहन करें। गरीबों को उद्योग मिलेगा। स्वाभिमान-पूर्वक उसके मुँह में कौर जायगा। ऐसा करेंगे, तभी जो भयानक संकट आना चाहता है, वह टलेगा। ईश्वर हमें सद्बुद्धि दे।

ग्राम-सेवा वृत्त ५-९, १०

श्रमदेव की उपासना

मनुष्य को प्राय. बाह्य अनुकरण की आदत पड़ जाती है। आकाश के तारों को देखकर हम मंदिरों में हंडे और झाड़ फानूस टाँगते हैं। आकाश के तारे तो आनंद देते हैं, पर ये हंडे और झाड़ तो घर की शुद्ध वायु को भी जला देते हैं। चार महीने की वर्षा के बाद धुले हुए आकाश के अनगिनत नक्षत्रों को देख हमने दिवाली शुरू की। बचपन में हम एक वृक्ष के फल में नारियल के तेल के दिये जलाते थे। अब तो देहात में भी भयानक धुआँ उगलनेवाले मिट्टी के तेल के दिये जलाये जाते हैं। बड़ी कांग्रेस के अनुकरण के रूप में हम प्रारंभ संगीत से करते हैं। वह संगीत समझ में भी नहीं आता। अमुक-अमुक गेट के नाम पर दरवाजे भी बनाते हैं। लेकिन अनुकरण अन्दर से होना चाहिए।

भले ही कांग्रेस में राष्ट्र का वैभव दिखाई दे, लेकिन खादी-यात्रा में तो राष्ट्र का वैराग्य ही प्रकट होना चाहिए। हिमालय से निकलनेवाली गंगा गंगोत्री के पास छोटी तो है, पर है स्वच्छ। प्रयाग की गंगा नदियाँ, नाले और नालियाँ मिलने से वैभवशालिनी बन गयी है। दोनों जगह वही पवित्र गंगा है। लेकिन गंगोत्री की गंगा यदि प्रयाग की गंगा का अनुकरण करने लगे, तो प्रयाग की विशालता तो उसमें आयेगी ही नहीं, लेकिन वह अस्वच्छ, हो रहेगी। कांग्रेस के समान बड़े-बड़े सम्मेलनों में राष्ट्र का वैभव और सिद्धि प्रकट होती है, पर छोटी-सी खादी यात्रा में वैराग्य और शुद्धि के दर्शन होने चाहिए। हम चाहे कितनी ही कोशिश क्यों न करें, कांग्रेस का वैभव देहात में नहीं ला सकते। वहाँ तो देहातियों के दिल की ताकत और देहाती जीवन ही प्रकट होना चाहिए।

हम खादी-यात्रा में क्यों जमा होते हैं ? व्याख्यान, खेल-कूद, राष्ट्र-गीत के लिए नहीं। किसी भी यात्री से पूछिये, यात्रा के स्थल पर मेला, बाजार लगता है। और भी हजारों चीजें होती हैं। लेकिन वह वहाँ क्यों जाता है ? देव-दर्शन के लिए। कोई कहेगा, उस पत्थर में क्या धरा है जी ! लेकिन तीर्थ-यात्री के लिए वह पत्थर नहीं है। उमरेड (नागपुर के पास की एक तहसील) के पास रहनेवाला एक अछूत लड़का पंढरपुर जाता है। उसे मंदिर में प्रवेश भी नहीं मिलता। लेकिन देव-दर्शन के लिए ही वह गया। हम उसे पागल भले ही कहें, लेकिन वह अपनी दृष्टि में पागल नहीं होता। उससे पूछा : "इतनी दूर पैदल चलकर धधा छोड क्यों गया ?" तो वह कहता है : "घर मे थोडा जी ऊब गया था। सोचा कि देव-दर्शन कर आऊँ।" उल्टे हमें ही पंढरपुर के देवता से कोई मतलब नहीं होता। लेकिन वहाँ हम यात्रा के लिए जमा हुए लोगों का फायदा उठाने के लिए खादी-ग्रामोद्योग की प्रदर्शनी रखते हैं। पर हमारा उद्देश्य सफल नहीं होता। चाहे शुद्ध उद्देश्य से ही क्यों न हो, लेकिन यदि जनता को फाँसना ही है, तो कम-से-कम मैं तो उसे सीधे अपना मतलब बताकर फाँसूंगा। खादी-ग्रामोद्योग का स्वतंत्र मंदिर हम क्यों नहीं बना सकते ? दूसरे मेलों से लाभ उठाने की जरूरत हमें क्यों पड़ती है ?

खादी-यात्रा में हम खादी, ग्रामोद्योग और अहिंसा के प्रेमी क्यों एकत्र होते हैं ? जिसे मुझ जैसी दो दिन रहने की फुरसत न हो, वह यहाँ किस खास चीज के लिए आये ? सब मिलकर एक जगह कातने के लिए। परिश्रम हमारी देवता है, उसके दर्शनों के लिए। गांधी-सेवा-सघ के सम्मेलन में मैं प्रायः नहीं जाता। पर जाना चाहता हूँ, वह इसलिए कि वहाँ सामुदायिक शरीर-श्रम का कार्यक्रम होता है। खादी-यात्रा में यह गद्दी किसलिए ? खादी और गद्दी की लड़ाई है। इसमें गद्दी जीतनेवाली हो, तो हम खादी छोड़ देंगे। दुबले, पतले-कमजोर आदमियों और बूढ़ों के लिए उसका उपयोग भले ही होता

रहे। यहाँ तो जमीन साफ लीप-पोतकर हमारा मुख्य कार्यक्रम होना चाहिए। दूसरे ही कार्यक्रम मुख्य होने लगें तो वह ऐसा ही होगा कि कोई किसान हमारे घर मेहमान आये, हम सुन्दर चौक पूरकर उसके सामने तरह-तरह की चटनी और अचारों का ढेर थालियों में लगा दें, लेकिन उसमें रोटी रखें केवल दो तोले। वह कृषक कहेगा कि मेरा इस तरह मजाक क्यों उड़ाते हैं। हम यहाँ मजदूरी करने आते हैं। क्या आप हम ग्रामीण भाइयों का मजाक उड़ाते हैं?

दूसरे लोग हमसे कहते हैं, कैसा है जी तुम्हारा धर्म? श्रीकृष्ण के नाम का जयजयकार होता है, लेकिन ६० प्रतिशत लोग गीता तक नहीं जानते। मुझे इसका इतना दुःख नहीं है। गोपालकृष्ण का नाम तो सब लोग जानते हैं न? उनकी जीवनी तो सब जानते हैं न? कृष्ण की महत्ता इसलिए नहीं है कि उन्होंने गीता गायी। वह तो उनके जीवन पर अवलंबित है। द्वारिकाधीश होने के बाद भी सारा राज-काज सँभालकर श्रीकृष्ण कभी-कभी ग्वालों के साथ रहने आया करते थे। गायें चराते थे, गोबर उठाते थे। उन्हें इस सारे काम से इतना प्रेम था। इसीलिए आज भी लोगों के दिल में उनके लिए इतना प्रेम है और वे उनका स्मरण करते हैं। श्रमिकों के प्रतिनिधि बनकर भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ करते थे, वह हमें अपना प्रधान कार्य समझकर करना है। इसके अलावा और जो कुछ करना चाहें कीजिये, पर अनुकरण का नाटक न हो।

महात्माजी बिलकुल अपनी टेकी पर आ गये हैं। अहिंसा के बल हमने इतनी मंजिल तय की। लेकिन अब भी हमारी सरकार को हिंदू-मुसलमानों के दंगों में पुलिस और फौज बुलानी पड़ती है। अहिंसा के बल पर हम दंगे शांत नहीं करा सकते, यह एक तरह से अहिंसा की हार ही है। दुर्बलों की अहिंसा क्या कर सकती है? कोई-कोई कहते हैं, इसमें मंत्रियों का क्या दोष है? मैं कहता हूँ, तिनके के बराबर भी नहीं है, लेकिन आखिर मंत्री बनकर भी यदि अंग्रेजी फौज का आवाहन

करना है, तो फिर इतिहास में भी यही करके हमने यहाँ अंग्रेजों का राज कायम किया है। पुनः वही 'उद्योग' (प्रपंच) क्यों ? गांधी के देशभक्त अनुयायी भी हमारी फौज की शरण लेते हैं, इसकी अंग्रेजों को कितनी खुशी हो रही होगी ? अगर बिना फौज के काम ही न चलता हो, तो अपनी फौज खड़ी कीजिये। आज तो फौज में चुन-चुनकर तामसी लोग भरती किये जाते हैं। कम-से-कम आप ऐसा तो न करेंगे। आप देश की हालत जाननेवाले लोगों को फौज में भरती करेंगे।

महात्माजी ने अपने दो लेखों में यह बात साफ कर दी है कि अहिंसा वीरों की होनी चाहिए, दुर्बलों की कदापि नहीं। ज्ञानदेव के अनुसार 'जे वेळीं लोह् मांसातें घाटे' अर्थात् जब शस्त्र की धार शरीर में लगती है, तभी वीर की परीक्षा होती है। यदि हम अहिंसा का नाम लें और मरने को तैयार न हों, तो ऐन मौके पर दीख पड़ेगा कि हम कायर हैं।

कांग्रेस के ३१ लाख सदस्य बन गये हैं। लेकिन संख्या को लेकर क्या करना है ? रोज एक जून रोटी खानेवाले को कांग्रेस का सदस्य बनायें, तो ३५ करोड़ सदस्य बन जायँगे। दोनों जून खानेवाले लें, तो कम-से-कम ४ ५ करोड़ इनमें से कम कर देना पड़ेगा ! सिंधिया के पास साठ हजार फौज थी। होलकर के पास चालीस हजार। लेकिन वेलजली ने अपनी पाँच हजार फौज से उनकी धुर्रियाँ उड़ा दीं। जब वेलजली ने चढ़ाई की, तो सिंधिया के दस हजार जवान पाखाने गये थे, दस हजार सो रहे थे और शेष दस हजार आँखें मल रहे थे। ऐसे तमाशबीनों से क्या होगा ? फिर अहिंसा की लड़ाई में ये तमाशबीन चल ही नहीं सकते। बड़ के पेड़ के नीचे जुटे लोग उसकी छाया से लाभ उठायेंगे, लेकिन उनमें से कोई उसके काम नहीं आयेगा।

मंत्रि-पद स्वीकार कर लेने में लाभ चाहे जो हुआ हो, लेकिन एक बड़ा भारी नुकसान हुआ। लोगों की स्वावलंबन की आशा

मन्द पड़ गयी है। जनता की स्वावलम्बन की आशा कम होने और हर बात में सरकार की मदद और रक्षा की अपेक्षा रखने का अर्थ है, अहिंसा का आधार ही टूट जाना। फिर सेना और हिंसा का मार्ग ही शेष रहता है। अगर हम हिंसा का ही मार्ग पकड़ना था, तो हमने विगत अठारह वर्ष अपने अच्छे-से अच्छे लोगों को अहिंसा की शिक्षा देने की मूर्खता क्यों की? जर्मनी और इटली की तरह इन नौजवानों को भी अच्छी सैनिक शिक्षा दी गयी होती? इसलिए गांधीजी कहते हैं कि मेरा मार्ग शूरों के मार्ग के रूप में जँचे तो उसे स्वीकार करो, नहीं तो छोड़ दो।

पवनार में मैं मजदूरों के साथ उठता बैठता हूँ। मैंने उनसे कहा : "तुम सब अपनी मजदूरी इकट्ठी कर आपस में बराबर बाँट लो।" आपको आश्चर्य होगा, पर मजदूरों ने कहा "कोई हर्ज नहीं।" लेकिन इस प्रस्ताव पर अमल कैसे हो? मैं उनसे अलग रहकर? जब मैं भी उनमें शामिल हो जाऊँगा, तब हम सब मिलकर उस पर अमल करेंगे। आपको अपने हजार आंदोलन छोड़कर इस सच्ची राजनीति की ओर ध्यान देना चाहिए। मजदूरों की मजदूरी की शक्ति प्रकट होनी चाहिए। आप गरीबों के हाथ में सत्ता देना चाहते हैं न? तब तो उनके हाथों का खूब उपयोग होने दीजिये। बचपन में हम एक श्लोक पढ़ा करते थे 'कराग्रे वसते लक्ष्मीः', अँगुलियों के अग्रभाग में लक्ष्मी रहती है। तो फिर इन अँगुलियों का ठीक ठीक उपयोग होना आवश्यक नहीं? क्या उनमें उत्तम कला कौशल आना जरूरी नहीं? हम विदेशी वस्त्र-बहिष्कार कमेटी बनाते हैं। उसके कार्यालय में हजारों चीजें होती हैं, लेकिन चरखा, धुनकी नदारद। गांधी-सेवा संघ में हर महीने हजार गज कातने का नियम है। लेकिन शिकायत यह है कि उसका भी भलाभाँति पालन नहीं होता। ये स्वराज्य प्राप्त करने के लक्षण नहीं हैं। फिर तो आपका स्वराज्य सपने का स्वराज्य होगा। जब तक हम मजदूरों के साथ परिश्रम करने के लिए तैयार न होंगे,

तब तक उनका-हमारा 'एका' कैसे होगा ? जब तक हम उनमें घुल-मिल न जायँ, तब तक हमारी अहिंसा की शक्ति प्रकट न होगी।

कताई की मजदूरी की दर बढ़ायी जानेवाली है, इससे कुछ लोगों की शिकायत है। कुछ लोग कहते हैं कि मजदूरी चाहे जितनी बढ़ायें, लेकिन खादी सस्ती रहे। अब इस दलील के सामने अर्थशास्त्र क्या सिर पीटे ! कताई की दर बढ़ाकर खादी सस्ती कैसे करें ? शायद इसका भी मेल बैठाने में सफलता मिल जाय। लेकिन उसके लिए यन्त्र, तोप, हवाई जहाज आदि की सहायता लेनी पड़ेगी। शहर के लोग कहें कि खादी सस्ती मिलनी चाहिए तो भले ही कहें, मगर देहात के लोग भी जब यही कहने लगते हैं, तो बड़ा आश्चर्य होता है। आप कहते हैं कि मजदूरों को जिंदा रहने के लायक सुविधा हो। अंग्रेज भी तो दिलोजान से यही चाहते हैं कि हम जियें और जन्मभर उनकी मजदूरी करें।

खादी-काम का व्यवस्थापक यदि ३०) वेतन लेता है, तो त्यागी और योग्य समझा जाता है। उसे निजी काम के लिए या बीमारी के कारण सवेतन छुट्टी मिल सकती है। लेकिन उसके मातहत काम करनेवाले को डेढ़ आना मजदूरी मिलती है। निजी काम के लिए या बीमारी की छुट्टियाँ नदारद ! हाँ, बिना वेतन के चाहे जितनी छुट्टियाँ लेने की सुविधा है। इन बेचारे मजदूरों को अगर खादी-यात्रा में आना हो, तो अपनी रोजी त्याग करके आना पड़ता है और इसके अलावा यहाँ का खर्च भी देना पड़ता है। शायद तुलना कड़वी लगे। लेकिन कड़वे-मीठे का प्रश्न नहीं है, प्रश्न है सत्य-दर्शन का।

कुछ लोग कहते हैं, समाजवादियों ने मजदूरों को फुसलाकर अपने पक्ष में कर लिया है, इसलिए हमें मजदूरों में मिलकर उन्हें समाजवादियों के चंगुल से छुड़ाना चाहिए। भाइयो, समाजवादियों से

प्रतियोगिता के लिए क्यों ? मजदूरों के प्रेम से ही उनमें मिलिये । लेकिन आप मजदूरों में किस पद्धति से प्रवेश करना चाहते हैं ? अगर अहिंसक पद्धति से उनमें शामिल होना चाहते हैं, तब तो व्यवस्थापक और मजदूर के बीच का अंतर घटता ही जाना चाहिए । व्यवस्थापकों को मजदूरों के समान बनना चाहिए और मजदूरों का वेतन बढ़ाना चाहिए । कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं कि इस तरह आप मजदूरों का वेतन बढ़ाकर उनका एक विशेष वर्ग निर्माण कर रहे हैं । तो फिर मुझ पर यह भी आक्षेप क्यों न किया जाय कि मैं देश की सेवा करनेवाले देश-सेवकों का ही एक खास वर्ग बनाने जा रहा हूँ ? मजदूरी की दर बढ़ाये बिना मैं मजदूरों के साथ एकरूप किस तरह हो सकता हूँ ? उनका और मेरा 'एका' कैसे हो सकता है ?

किशोरलालभाई का आग्रह था कि नयी तालीम के प्राथमिक शिक्षकों को कम से-कम २५) मासिक वेतन मिलना चाहिए । पवनार के मास्टरों को १६) वेतन मिलता है । मजदूरों को उनसे ईर्ष्या होती है। तीन साल पहले मेरे प्राण उड़ चुके थे, सो कताई के भाव बढ़ते ही फिर इस शरीर में लौट आये । बेचारों को दस-दस घंटे मेहनत करनी पड़ती है, तब कहीं बड़ी मुश्किल से चार आने पैसे मिलते हैं । और मेरा खर्च तो कम-से-कम छह आने का है। फिर मैं उनमें कैसे शामिल हो सकता हूँ ?

आज तो श्रम की प्रतिष्ठा केवल वाङ्मय में है । उसका कोई उपयोग नहीं । श्रम की अधिक मजदूरी देना ही उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा बढ़ाना है और इसका आरंभ हम आप सबको मिलकर करना है ।

यहाँ इतने खादीधारी आते हैं, लेकिन सब अपना-अपना चरखा या तकली नहीं लाते । यहाँ उन्हें तकलियाँ बाँटनी पड़ती हैं । तकला

भूलकर आना, हजामत के लिए आते समय नाई का अपना उस्तरा भूल आने सरीखा है ! इसलिए लोग यहाँ आयें, तो उन्हें अपने शस्त्रों-से सुसज्ज होकर आना चाहिए। हम यहाँ खिलवाड़ के लिए नहीं आते। हमारी खादी-यात्रा में वैराग्य का वैभव और श्रम की शक्ति प्रकट होनी चाहिए।

ग्राम-सेवा वृत्त २-८, ९

सोनेगाँव की खादी-यात्रा की बात है। वहाँ शिष्ट-मण्डली के लिए गद्दी बिछायी गयी था। शिष्ट-मण्डली कहने के बदले विशिष्ट-मण्डली कहना चाहिए, क्योंकि वहाँ आनेवाले सभी शिष्ट ही थे। उस समय मुझे कहना पड़ा था कि खादी और गादी की बनती नहीं है। दोनों की आपस में लड़ाई है। और इस लड़ाई में यदि कहीं गादी की जीत हो गयी, तो हमें खादी को विदा दे देनी होगी।

लोग कहते हैं : 'खादी की भी तो गादी बन सकती है ?' जी हाँ, बन सकती है और अगूरों की शराब भी बन सकती है। किन्तु उसे बनाना नहीं चाहिए और न उसकी गणना अगूरों में करनी चाहिए।

भावार्थ समझने की बात है। बीमारों, कमजोरों और वृद्धों के लिए गद्दियाँ रखें तो बात समझ में आ सकती है। किन्तु शिष्ट माने जानेवाले लोगों के लिए, दूसरों से उन्हें अलग बताने के लिए, अलग बैठने की व्यवस्था करना अलग बात हो जाती है। खादी का जो विरोध है, सो इस दूसरे प्रकार की गादी से।

यह गादी लीकों और खटमलों का अड्डा होता है। उसे आप शिष्ट लोगों के लिए लाकर रखें, इसमें शिष्टों का सम्मान नहीं, अपमान है। दुःख की बात है कि शिष्टों को भी वैसा नहीं लगता। हम तो शंकराचार्य की भी गादी बनाते हैं। वे कह गये हैं : **'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः'** अर्थात् लँगोटी लगानेवाले ही सच्चे भाग्यवान् हैं। किसीको यह बात जँचे या न जँचे, पर आचार्य के भक्तों को तो जरूर जँचनी चाहिए।

राष्ट्रों का उत्थान और पतन होता है। किन्तु आलस्य, विलासिता और गन्दगी का कभी उत्कर्ष नहीं होता। छत्रपति शिवाजी कहा करते कि "हमने धर्म के लिए फकीरी धारण की है।" किन्तु पेशवा पानीपत के युद्ध के लिए भी सकुटुम्ब, सपरिवार गये और कार्य मे विफल होकर खाली हाथ लौट आये। गिबन ने लिखा है कि "रोम बढ़ा कैसे? सादगी से और गिरा कैसे? तो विलासिता से।"

बीच मे असहयोग के जमाने में राष्ट्र के नौजवानों में, वृद्धों में, पुरुषों में और स्त्रियों में भी कुछ त्याग और वीरता का संचार होने लग गया था। टाट के जैसी मोटी खादी रुपये-रुपये, सत्रह आने गज के भाव से लोग बड़े गर्व के साथ बेचते और खरीदते थे। इसके बाद हम धीरे-धीरे खादी के अलग ही गुण गाने लगे। खादी बेचने-वाले गर्व के साथ कहने लगे: "देखिये, खादी ने कितनी तरक्की कर ली है। बिलकुल अप-टु-डेट, अद्यतन, महीन, शानदार विलासी जैसी चाहें, वैसी खादी हो सकती है और वह भी पहले की अपेक्षा कितने सस्ते दामों में।" खरीदनेवाले भी कहते हैं: "इसी प्रकार उत्तरोत्तर तरक्की करती रहे और मिलों की पूरी बराबरी में आ जाय।" किन्तु उनकी समझ में यह बात नहीं आती थी कि यदि मिलों की बराबरी करनी है, तो फिर खादी की ही जरूरत क्यों? मिलें ही क्या बुरी हैं? वैद्य अपनी दवा की स्तुति कर रहा था: "बिलकुल सस्ती दवा। न पथ्य और न परहेज।" बेचारा रोगी ललचा गया। पर बेचारा भूल गया कि उसमें गुण भी नहीं है।

गलतफहमी मत होने दीजिये। मजदूरों को पूरी मजदूरी देकर खादी को जितना भी सम्भव हो, सस्ता करना कर्तव्य नहीं, ऐसी बात नहीं। इसी प्रकार सब लोगों की सब प्रकार की सुविधा और उपयोग का ध्यान रखना भी बुरा नहीं। किन्तु प्रश्न यही है कि प्रशंसा किस बात की हो? बिगड़ी आँखों के लिए चश्मे का प्रबन्ध

जरूर किया जाय, पर 'देखि रूप लोचन ललचाने' गाने का स्थान वह नहीं कहा जा सकता। इसी आशय का एक वचन ज्ञानदेव का भी है : 'रूप पाहतां लोचनीं। सुख झालें वो साजणी।'

ज्ञानदेव का यह वचन कहने के साथ अनायास एक प्रसग याद आ रहा है। एक रसिक-दृष्टि कलाकार पढरपुर गया। विठोबा के दर्शन करके लौटा और मुझसे कहने लगा : "लोग विठोबा के रूप की बड़ी तारीफ करते हैं, जोर-जोर से उनके भजन गाते हैं। किन्तु मूर्ति देखने पर मुझे तो ऐसा कुछ भी नहीं लगा। वहाँ केवल अनघड़ पत्थर की एक आकृति सी थी।" शिल्पकार और भक्तजन दोनों यदृच्छा-लाभ से सतुष्ट हो गये, ऐसा कहने के सिवा गति नहीं। जान पड़ता है कि पचतत्र की कहानीवाले तीन धूर्तों ने जिस प्रकार बकरे को कुत्ता बना दिया, उसी प्रकार इन लोगों ने एक अनघड़ पत्थर में सौन्दय निर्माण करने का निश्चय कर लिया हो।" मैंने कहा : "यही बात है। ससार की भीमा नदी में डूबनेवालों को बचाने के लिए जिसने अपनी कमर कस ली है, उसके तो इस प्रकार मजबूत, अनघड़, जीवट-वाला तथा तेलिया रहने में ही शोभा है। क्षीरसागर में शेषनाग की सेज पर पड़े या पचायतन में फोटो के लिए सजकर तैयार देवताओं के सौन्दर्य का यदि वह अनुकरण करने लगता, तो उसकी 'शोभा' नहीं मानी जाती ? रामदास ने कहा है . 'चातुर्यें शृगारे अतर। वस्त्रें शृंगारे शरीर। दोहींमध्यें कोण थोर। बरें पहा॥' अर्थात् जो चातुर्य से अपने अन्तर को और वस्त्रों से शरीर को सजाता है, इन दो में से कौन बड़ा ? सोचो तो ! इसीलिए तो शिवाजी को मजबूत, कष्ट-सहिष्णु मावले मिल गये।

मेरा समाजवादी मित्र कहेगा : "लीजिये, आप तो फिर अपनी पर आ गये और दरिद्रनारायण की पूजा करने लग गये। हम नहीं हैं दारिद्रय के पूजक ! हम तो हैं वैभव के पूजक।" मैं कहता हूँ : "अरे

भाई, इस तरह निरे कूढ़ दिमागवाले मत बनो। हम क्या 'दारिद्रय' को नारायण कहते हैं? नहीं, बल्कि 'दरिद्र' को नारायण कहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि धनवान् नारायण नहीं है। मैं यदि अपने-आपको ब्रह्म कहता हूं, तो इसका यह मतलब नहीं कि आप ब्रह्म नहीं हैं। आप भी ब्रह्म ही हैं। अब तो आपका समाधान हुआ? दरिद्र भी नारायण और श्रीमान् भी नारायण! दरिद्रनारायण की पूजा उसका दारिद्रय दूर करने से होती है और श्रीमन्त नारायण की पूजा श्रीमत्ता का सही अर्थ बताकर उसे त्याग करने के लिए तैयार करने से होती है। यदि आपके जैसा मूर्खनारायण मिल जाय, तो उसकी पूजा इस प्रकार खुलासा करके की जाती है।"

किन्तु इस यथार्थ विनोद को हम छोड़ दें। समाजवादी मित्र को वैराग्य नहीं जँचता, तो न सही। वह वैभव को ही ले। वैभव किसे कहते हैं और उसे किस प्रकार प्राप्त किया जाता है, यह प्रश्न भी छोड़ दें। परन्तु समाजवादी साम्यवादी तो है न? दो-चार आदमियों को गादी और शेष लोगों को फटा टाट या धूल! इससे तो उनका समाधान नहीं होता न? जब मैंने खादी और गादी की लड़ाईवाली बात कही, तो यह अर्थ खास तौर पर मेरे दिमाग में था। सब लोगों के लिए गद्दियाँ लगा दी जातीं, तो वह अलग बात हो जाती। परन्तु यह तो सम्भव नहीं था। और सम्भव नहीं था, तो किसी तरह इष्ट भी नहीं था, यह ध्यान में आना चाहिए था।

हमारी कुछ मंडली में इन दिनों एक ओर साम्यवाद, तो दूसरी ओर विषमता का व्यवहार जोरों से बढ़ रहा है। दोनों सुख-सन्तोष से साथ साथ रहने लग गये हैं। फैजपुर की कांग्रेस की अपेक्षा हरिपुरा की कांग्रेस में यह विषमता और भी बढ़ गयी। अध्यक्ष, विशिष्ट पुरुष, शिष्ट नेता, सामान्य नेता, प्रतिनिधि, माननीय प्रेक्षक और ग्रामीण जनता सबके लिए अलग-अलग वर्गवार प्रबंध वहाँ किया गया था।

हम सब जानते हैं कि यह सब देखकर गांधीजी को बड़ा तीव्र दुःख हुआ। परन्तु व्यवहार की यह विषमता केवल विशेष प्रसंगों पर ही प्रकट नहीं होती। वह तो हमारे मनों और प्रत्यक्ष जीवन में भरी पड़ी है। हमारे दिलों में यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि क्या मजदूरों को पूरी मजदूरी दी जाय? परन्तु यह प्रश्न खड़ा नहीं होता कि क्या व्यवस्थापकों को पूरा वेतन दिया जाय? हम कहते हैं कि जिन्हें गाँवों में काम करने के लिए जाना है, उनकी रहन-सहन ग्रामीणों की-सी हो। परन्तु हम जो उन्हें गाँवों में भेजते और ऐसा उपदेश देते हैं, कि खुद उनका जीवन भी ऐसा ही होना चाहिए, तो इस बात का तीव्र क्या, कभी-कभी तिलभर भी उनको भान नहीं होता। साम्य की शत्रुता भेद से जरूर होगी, पर विवेक से तो निश्चय ही नहीं है। इसीलिए हमने बीमारों और बूढ़ों के लिए गादी को मंजूर कर लिया है। इसी प्रकार गाँवों में जानेवाले युवक कार्यकर्ता और उनको वहाँ भेजनेवाले बुजुर्ग नेताओं के जीवन में कुछ फर्क हो सकता है, इसे भी विवेक मान्य कर सकता है। इसीलिए साम्य के सिद्धान्त को इसके विषय में कोई शिकायत नहीं होगी। किन्तु जो अन्तर प्रत्यक्ष है, वह ऐसा नहीं है। वह आँखों में खटकने लायक है। इस विषम वैभव को मैं 'गादी' कहता हूँ। और मेरा मतलब है कि खादी की उसीसे सीधी लड़ाई है।

उस दिन हमारे यहाँ बातचीत चल रही थी कि आश्रम की आबादी बढ़ती जा रही है। उसके लिए और अधिक जमीन लेकर वहाँ ग्राम-रचना-शास्त्र के अनुसार उसकी योजना-रचना बनायी जाय। मुझे पूछा जा रहा था कि कताई-बुनाई करनेवाले, बढ़ई आदि मजदूर, व्यवस्थापक-वर्ग, कुटुम्बीजन, दफ्तर के कार्यकर्ता, आश्रमवासी, मेहमान इन सबके लिए किस-किस प्रकार के मकान बनाये जायँ आदि। पूछनेवाला खुद तो साम्य का पुजारी था ही। परन्तु वह यह भी जानता था कि मैं भी साम्यवादी ही हूँ। मैंने अपने-आपसे और प्रकट

रूप से भी कहा कि मुझे दाल हजम नहीं होती, इसलिए मैं दही खाता हूँ और एक मजदूर को दही अच्छा तो लगता है, फिर भी वह दाल पचा सकता है, इसलिए उसीसे काम चला लेता है। विवेक के नाम पर हम इतनी विषमता सहन कर लेते हैं। परन्तु क्या हमारे मकानात भी अलग-अलग प्रकार के हों? मजदूरों के मकान के जैसा मेरा मकान भी क्यों न हो? या मेरे जैसा ही उसका मकान भी क्यों न हो?

बात वैभव की हो या वैराग्य की, विषमता को हम कहीं भी सहन न करें। इसीका नाम है, आत्मौपम्य। सच्चा साम्यवाद यही है और उसका अमल आज से ही शुरू हो जाना चाहिए। साम्यवाद की केवल बात न हो। महत्त्व इस बात का है कि वह आज के आज शुरू हो। आज के आज ही साम्यवाद का अमल कैसे हो, इसकी तरकीब का नाम 'अहिंसा' है। अहिंसा कहती है कि अपने-आपसे प्रारंभ करो। तो आज से ही उसका प्रारम्भ हो जायगा। खादी अहिंसा का चिह्न है। यदि वही भेदभाव को प्रश्रय देने लगेगी, तो यही कहना होगा कि वह अपनी गर्दन खुद अपने हाथों काट रही है।

इस सारे अर्थ का सग्राहक सूत्र-वाक्य है : "गादी की गादी से लड़ाई है।"

ग्राम-सेवा वृत्त २-१४

रचनात्मक कार्यक्रम : १८ :

आजकल भारत में स्वतंत्रता की लड़ाई की बातें कही जाती हैं। कुछ लोग कहते हैं कि इस बार जो लड़ाई होगी, वह आखिरी होगी। द्रष्टा लोग तो भविष्यवाणी भी करते हैं कि अनेक कारणों से स्वराज्य बहुत नजदीक—केवल आँखों के सामने ही नहीं, लगभग हाथों में—आ गया है।

अनेक कारणों से वह चाहे कितना ही नजदीक आ गया हो, पर वह 'स्व' के कारण कितना नजदीक आ गया है, यही स्व-राज्य के बारे में मुख्य प्रश्न होता है। स्वराज्य अनेक कारणों से नहीं, 'स्व' के कारण ही मिलता है।

उधर यूरोप में इन दिनों एक महायुद्ध चल रहा है। प्रतिपक्ष के भेड़िये कहते हैं कि वे इस युद्ध में इसलिए पड़े हैं कि उनके दुश्मन भेड़िये जिन मेमनों को खा रहे हैं, उन्हें वे छीनना चाहते हैं। यदि जिन्दा मिल जायँ तो ठीक, नहीं तो मरे हुए ही सही। परन्तु अभी इन आठ महीनों में तो पहलेवाले मेमने छूटने के बजाय हम और नये मेमने किस तरह निगल जायँ, ये ही मनसूबे चल रहे हैं। इधर जो मेमने इनके पेट में पहुँच गये हैं, वे भी आशा लगाये बैठे हैं कि दोनों भेड़ियों की लड़ाई में निश्चय ही हम इनके पेट से बाहर उगल दिये जायँगे।

ईसप की यह कहानी कुछ इसी प्रकार की है। इसका सार तात्पर्य हम ईसप पर ही छोड़कर आगे बढ़ें। यूरोप की यह लड़ाई हिंसक साधनों से और हिंसा के उद्देश्य से चल रही है। किन्तु हमारी लड़ाई तो अहिंसक साधनों से और अहिंसा के लिए होनेवाली है। इस तरह दोनों के बीच बहुत बड़ा फर्क होने पर भी इस हिंसक लड़ाई में भी

बहुत-सी बातें हमारे लिए ग्राह्य हैं। साधन कैसे भी हों, किन्तु आज-कल के युद्ध एक अर्थ में सामुदायिक और सर्वांगीण सहकारिता के प्रचण्ड प्रयत्न होते हैं। भले ही इस प्रयत्न का उद्देश्य और फल दोनों विध्वंसक हों, परन्तु लगभग सारा प्रयत्न रचनात्मक होता है। कहते हैं, जर्मनी ने ७० लाख फौज खड़ी की है। आठ करोड़ की आबादी-वाले राष्ट्र का इतनी बड़ी फौज का खड़ा करना मामूली बात नहीं है। और इसमें केवल फौज ही खड़ी करने की बात नहीं है। इसके साथ ही इतने सैनिकों के लिए उतने ही बड़े पैमाने पर शस्त्र-सामग्री, औजार तथा अन्य सामग्री तैयार करना, चुने लोग फौज में दाखिल होने के बाद शेष लोगों की सहायता से राष्ट्र का जीवन-व्यापार चलाना, संपत्ति का स्रोत प्रवाहित रखने के लिए यथासंभव औद्योगिक योजनाओं को निरन्तर जारी रखना, विद्यालयों को बन्द कर देना, दैनिक जीवन-सामग्री का व्यक्तिगत स्वामित्व मिटाकर वह सरकार को सौंप देना—मतलब यह कि विश्वरूप-दर्शन में जिस प्रकार हाथ, पाँव, कान, आँखें, नाक, सिर और मुख अनंत होने पर भी हृदय एक ही बताया गया है, उसी प्रकार सारे राष्ट्र को एक हृदय बना लेना—यह सब इतना विशाल और सर्वतोमुखी रचनात्मक कार्यक्रम है कि संहार-प्रवण होने पर भी हमारे लिए उसमें से बहुत कुछ ग्रहण करने योग्य है।

लोग पूछते हैं कि गांधीजी लड़ाई की तैयारी करने को कहते हैं, तो उससे रचनात्मक कार्यक्रम का नाता क्यों जोड़ते हैं? हिन्दू-मुस्लिम-एकता, अस्पृश्यता-निवारण, खादी, ग्रामोद्योग, शराबबन्दी, गाँव की सफाई और नयी तालीम ये सब रचनात्मक कार्यक्रम हैं! इनमें लड़ाई की कौन-सी बात है? यह प्रश्न कौन पूछता है? वे ही लोग, जो स्वीकार करते हैं कि हमें यह लड़ाई अहिंसक साधनों से लड़नी है। उनके ध्यान में यह बात कैसे नहीं आती कि हिंसक लड़ाई के लिए भी अधिकतर रचनात्मक काम ही करने पड़ते हैं। सिर्फ सिपाहियों के लिए बिस्कुट बनाना ही नहीं, खेत में आलू पैदा करने से लेकर दुश्मन के जहाजों

पर टारपीडो चलाने तक सारा लड़ाई का ही अखण्ड कार्यक्रम होता है। इसमें यदि आखिरी बात को छोड़ दें, तो शेष सारी बातें प्रायः रचनात्मक ही हुआ करती हैं। इन रचनात्मक कार्यों के आधार पर ही यह अन्तिम विनाशक कार्य बन सकता है। यदि वे पिछले कार्य टूट जायँ, तो यह अगला कार्य बच ही नहीं सकता। अधिक क्या, यह मर्म जानकर शत्रु भी सामने के पक्ष का अन्तिम विनाशक कार्यक्रम नष्ट करने के सर्वोत्तम उपाय के रूप में इस बात की सतर्कता रखता है कि उसका पिछला रचनात्मक कार्यक्रम किस तरह लूला पड़ जाय। जब स्वयं हिंसक लड़ाई का यह हाल है, तब अहिंसक लड़ाई रचनात्मक कार्यक्रम के बगैर कैसे लड़ी जा सकती है? स्वराज्य का अर्थ है, सर्व-राज्य यानी सबका राज्य, हर व्यक्ति का राज्य। ऐसा यह स्वराज्य सामुदायिक सहकार्य के बगैर, उत्पादक कार्यक्रम के बगैर, सर्वोपयोगी राष्ट्रीय अनुशासन के बगैर कैसे पाया जा सकता है? कांग्रेस के ३० लाख सदस्य हैं। केवल वे ही रोज आधा घण्टा नियमपूर्वक कताई करें, तो राष्ट्र में कितनी बड़ी संगठना निर्माण हो सकती है! फिर इसमें ऐसा कौन मुश्किल है जो करने लायक न हो? वर्धा तहसील की ही बात लीजिये। इस तहसील में कांग्रेस के ६००० सदस्य हैं। इनको यदि २० गुटों में बाँट दिया जाय, तो हर गुट में ३०० सदस्य होंगे। सालभर में इन ३०० सदस्यों को सूत कातना सिखा देना चाहें, तो वह कोई विशेष कठिन नहीं है। किन्तु हमारा सबसे बड़ा विघ्न है अश्रद्धा। हम तरह-तरह की शंकाएँ करते बैठते हैं कि क्या लोग सीखने के लिए तैयार होंगे, सीख लेने पर भी कातते रहेंगे? उसका वे हिसाब रखेंगे और वह कांग्रेस के दफ्तर में भेजेंगे? इसके बजाय हम प्रत्यक्ष काम करने लग जायँ, तो आगे की बातें अपने-आप अनुभव से हल होती चली जायँगी।

ग्राम-सेवा वृत्त ४-२
पवनार, ७-५-'४०

ग्राम-सेवकों से

: १६ :

*आज मैंने यहाँ आना केवल मगनवाड़ी के विद्यार्थियों के दर्शन के लोभ से स्वीकार किया है। प्रमाण-पत्र देने के लिए तो मैं आया ही नहीं हूँ, क्योंकि उस पर मेरी श्रद्धा नहीं है। जिन विषयों के प्रमाण-पत्र मुझे मिले हैं, उनका ज्ञान मुझे नहीं के बराबर है और जिन विषयों की मैंने परीक्षा नहीं दी, उनका ज्ञान मुझे अच्छा है। किन्तु यहाँ जो प्रमाण-पत्र दिये गये हैं, वे केवल परीक्षा के नहीं हैं। इसलिए मैं आशा करता हूँ कि वे निरर्थक सिद्ध न होंगे।

यहाँ से निकलकर विद्यार्थी गाँवों में जायँगे। गाँवों की सेवा के लिए ही उन्हें शिक्षा यहाँ मिली है। यद्यपि हमारे ग्रामीण जनों का जीवन-स्तर नीचा है, फिर भी उनकी सेवा का स्तर बहुत ऊँचा है। आज तक सन्तों ने गाँवों में सेवा की है। इसलिए वहाँ से सेवा का प्रमाण-पत्र सहज नहीं मिल सकता। वहाँ हमें रात-दिन अतंद्रित रहकर काम करना होगा। यह न समझें कि गाँवों के लोग कम पढ़े-लिखे हैं, इसलिए अल्प-स्वल्प विद्या से काम चल जायगा। भले ही वे कम पढ़े-लिखे हों, पर अपने काश्तकारी के काम में बहुत कुशल होते हैं। वहाँ छात्रों की विद्या की कसौटी होगी। और भी एक बात याद रखनी होगी। यह कहने की आदत-सी हो गयी है कि गाँववाले आलस में समय गँवाते हैं। यह सही है कि शहरों की तरह गाँवों में भी कुछ लोग निरुद्योगी हुआ करते हैं। किन्तु जो लोग काम करते हैं, वे प्रायः इतना अधिक काम करते हैं कि उससे अधिक काम की

* मगनवाड़ी, वर्धा के ग्राम सेवक विद्यालय के उपाधि-वितरण के अवसर पर दिया गया अध्यक्षीय भाषण, २६-४-'४२।

आशा ही नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में यदि गाँवों में हमारी उद्योगशीलता कम सिद्ध हुई, तो हम फेल ही समझे जायँगे।

जब आप गाँवों में जायँगे, तो आपके सामने विराट् संसार खुल जायगा। अनेक स्त्री-पुरुषों से भेट होगी। उनके गुणों की ओर ही हमारी नजर रहे। दोषों की ओर प्रवृत्ति न हो। मनुष्यों के चित्त को मैं घर की उपमा देता हूँ। मकान को दीवालें और दरवाजे होते हैं। गुण मनुष्य के चित्त के दरवाजे हैं और दोष दीवालें। गरीब-से-गरीब आदमी के मकान में भी कम-से-कम एक दरवाजा तो जरूर होता है। इसी प्रकार सर्वथा गुणहीन माने जानेवाले व्यक्ति में भी एकआध गुण तो रहेगा ही। उस गुण के द्वारा ही उसके हृदय में प्रवेश करना चाहिए। दरवाजे के रास्ते हम सहज अन्दर घुस सकते हैं। दीवाल के रास्ते जाने की कोशिश करेंगे, तो सिर ही फूट जायगा। दोषों के द्वारा जो लोगों के दिल में प्रवेश करने की कोशिश करेगा, उसका यही हाल होगा। इसलिए हमारी वृत्ति गुणग्राहक हो। सच तो यह है कि हमें प्रत्येक स्त्री-पुरुष भगवान् की मूर्ति दीखने चाहिए। ऐसा हुआ, तो हमारा काम सुकर होगा।

संसार में हम लोग अनेक वाद सुनते और अनेक दल देखते हैं। किन्तु सेवकों को सभी वादों और दलों से अलग रहना चाहिए। हमारे लिए संसार में केवल दो ही दल हैं: स्वामी और सेवक। सेवक हैं हम खुद और स्वामी हैं शेष सब लोग। स्वामी की सेवा करना सेवक का धर्म है। सेवक को दलीय भेदों से क्या मतलब? गाँवों में दल बहुत हुआ करते हैं। उनकी तह में कोई तत्त्व होता है, ऐसी भी बात नहीं। प्रायः द्वेष और स्वार्थ ही होता है। सेवक को ऐसे किसी भी पक्ष में उलझना नहीं चाहिए। उसे निष्पक्ष रहकर सेवा करनी चाहिए। केवल सेवा करना ही उसका काम है। सेवा से कौन खुश हुआ और कौन नाराज, इससे हमें कोई मतलब नहीं। हृदयस्थ ईश्वर प्रसन्न हो, तो काफी है।

एक बात और। उद्योग और विद्या अलग नहीं हैं। इन्हें जहाँ अलग अलग किया जाता है, वहाँ दोनों निरुपयोगी हो जाते हैं। विद्या यदि सिर है, तो उद्योग धड़ है। इनको अलग करने के मानी हैं दोनों को मार डालना। अर्थात् राहु का-सा हाल करना! किन्तु आपको यहाँ उद्योग और विद्या एक साथ मिली है। आपको उद्योग के साथ ही विद्या पढ़ायी गयी है। इसलिए आपकी विद्या वीर्यहीन नहीं होगी। फिर भी गाँवों में जायँगे, तो आपको तरह तरह के अनेक काम करने होंगे। ग्राम-सेवा के अगरूप में व्यवस्था देखना, हिसाब लिखना, पढ़ाना, मौके पर भाषण देना आदि करने ही पड़ते हैं। किन्तु मैं कहता हूँ कि यह सब करते हुए आपको नित्य कुछ समय प्रत्यक्ष उद्योग अवश्य करना चाहिए। इससे आपकी विद्या ताजी रहेगी। नये होनेवाले शोधों का पता लगता रहेगा और स्वय आपको भी नये शोध सूझते रहेंगे। कई बार देखा जाता है कि उद्योग में अच्छे प्रवीण लोग भी प्रत्यक्ष सेवा में लगने पर शरीर-परिश्रम करना भूल जाते हैं। कहते हैं, समय नहीं मिलता। इससे कार्यकर्ताओं की और उनके काम की भी हानि होती है। उद्योग के साथ नित्य सपर्क न रहने के कारण उनका ज्ञान पिछड़ जाता है। फिर वे पुराने ज्ञान से ही काम चलाते हैं, यह ठीक नहीं। इसलिए प्रत्येक ग्राम-सेवक को *प्रतिदिन कुछ समय–मेरे मत से सभव हो, तो आधा दिन–उद्योग में* बिताना चाहिए। इसे ग्राम-सेवा का एक अग ही समझना चाहिए।

आप गाँवों में जायँगे, पर वहाँ आपको जमात कहाँ मिलेगी। यहाँ सस्था में तो आपके लिए सारी सुविधाएँ हैं, किन्तु गाँवों में तो सारी *असुविधाएँ रहेंगी। मान लीजिये, चरखा टूट गया,* आप बढ़ईगिरी नहीं जानते। गाँव में भी बढ़ई नहीं मिलता। घानी रुकी पड़ी है। किन्तु इससे हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। धीरज धरना चाहिए। छोटी-से-छोटी बात का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। छोटी बातों को

भी बड़ी बातों जितना ही महत्त्व देना चाहिए। किंबहुना, छोटी बातों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। बड़ी बातों को सहसा कोई नहीं भूलेगा, क्योंकि वे होती ही हैं बड़ी। इसलिए छोटी लगनेवाली बातों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। नहीं तो उनके ज्ञान के अभाव में हमारी गाड़ी ही रुक जायगी। एक आदमी बुनाई में अच्छा प्रवीण हो एक गाँव में करघा लेकर पहुँचा। वह बुनाई तो अच्छी तरह कर सकता था, पर करघा कैसे बैठाया जाय, यह ठीक-ठीक नहीं जानता था। इसलिए उसके करघे पर कपड़ा अच्छा नहीं आ रहा था। जो भी आदमी उस करघे पर बैठता, उसका कपड़ा बिगड़ जाता। तो इसका कारण क्या था? यही कि करघा कैसे बैठाया जाता है, इसे छोटा और तुच्छ काम समझकर उसकी उपेक्षा की गयी।

बस, मुझे जो कहना था, आप लोगों को संक्षेप में कह दिया। आज आपको संस्था की ओर से तो प्रमाण-पत्र मिल गये। किन्तु सच्चे प्रमाण-पत्र तो जनता की ओर से ही मिलनेवाले हैं और वे सच्ची सेवा के गुण से ही आपको मिलेंगे। अन्त में मैं यही आशा करता हूँ कि आप लोग गाँवों में जाकर और ग्रामीण जनता की उत्तम सेवा कर उस वास्तविक प्रमाण-पत्रों के अधिकारी बनेंगे।

ग्राम-सेवा वृत्त ६-२

गाँवों की जाग्रति

: २० :

* आप सबको यहाँ एकत्र देख मुझे आनंद हो रहा है। मेरा हमेशा का अनुभव रहा है—और यहाँ के भाषण और मतदान देख यहाँ भी वही अनुभव हुआ—कि गाँववाले शहरी लोगों से अधिक बुद्धिमान् हैं। शहर के लोग जड़ हैं। जड़ संपत्ति के व्यवहार के कारण वे जड़ बन गये हैं। मराठे लोग राजनीति में पहले से ही जागरूक हैं। कांग्रेसी शासन से वे और भी जाग्रत हो गये हैं।

आज मैं गाँवों की जाग्रति के बारे में आपसे कुछ कहना चाहता हूँ। आजकल किसान-सभा आदि की स्थापना द्वारा किसानों का संगठन किया जा रहा है। लोग पूछते हैं: "किसान-सभाओं को देख आपको क्या लगता है?" मैं कहता हूँ: "क्या इतना जड़ हूँ कि किसान-सभाओं को देखकर मुझे आनंद न हो? किसान-सभाएँ होनी चाहिए और गाँव-गाँव में होनी चाहिए। किन्तु इस विषय में मंडप सजाने के लिए ये जो डालियाँ काट-काटकर लगायी गयी हैं, उनसे एक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। ये डालियाँ आज तो सुन्दर दिखती हैं, किन्तु कल इनकी क्या दशा होगी? पेड़ की डाली पेड़ पर ही रहती है, तो उसे भीतर से पोषण मिलता रहता है। यदि वह अलग हो जाती है, तो सूख जाती है और पेड़ की भी हानि करती है। पचास वर्ष पूर्व जो वृक्ष (कांग्रेस) लगाया गया है, उसकी छाया में यह सभा हो रही है। इस वृक्ष को छोड़कर यदि किसान-सभाएँ अलग होंगी, तो उनकी हानि होगी और कांग्रेस की भी। इसलिए किसानों के सारे संगठन कांग्रेस के साथ ही होने चाहिए। कांग्रेस के साथ के मानी यह नहीं कि उनके नाम के साथ 'कांग्रेस' शब्द जुड़ा हो। इन दिनों स्वराज्य एक महत्त्वपूर्ण शब्द बन गया है। इसलिए विभिन्न

* सेवग्राम की किसान-परिषद् में दिया गया भाषण, १२-१-'३८।

संस्थाएँ 'वर्णाश्रम स्वराज्य संघ' जैसे नाम भी रख रही हैं। ऐसा न हो। कांग्रेस के साथ का मतलब यही है कि हमारी इन हलचलों से कांग्रेस का बल बढ़े, यह वृत्ति और दृष्टि रहे।

कांग्रेस के हाथो में सत्ता आयी, इसका मतलब क्या है? मतलब यह कि दही के अन्दर से मक्खन निकाल लिया गया है और मट्ठे का चौथा हिस्सा हमारे लिए छोड़ दिया गया है। इस चौथे हिस्से को ११ प्रान्तों में बाँट दिया गया है। इनमें से ७ प्रान्तों में हमारी सत्ता है। इस प्रकार रुपये में ढाई आने मट्ठा हमारे हिस्से में आया है। आप कहेंगे कि तब इसे मजूर क्यों किया गया? तो हम कहेंगे: "पच्चर ठोंकने के लिए।" भारत के बड़े लोगों ने सोचा है कि अंग्रेजी हुकूमत के शहतीर में जो छोटी-सी दरार पड़ गयी है, उसमें पच्चर ठोंक दें। यदि उन्हें यह सन्देह होता कि पच्चर ठोंकने से पच्चर ही टूट जायगी, तो वे यह स्थिति कभी स्वीकार न करते। उन्हें तो निश्चय है कि हमारी पच्चर फौलाद की है। फिर भी सिर्फ पच्चर ठोंकने से काम नहीं चलता। ऊपर से घन की मार भी मारनी पड़ती है। हमारे आन्दोलन घन के वार हैं।

इसलिए हमें इन आन्दोलनों का बड़ी कुशलता से संचालन करना चाहिए। अपने वोट देकर जिन्हें हमने विधान-सभाओं में भेजा, उन्हें हमारे कामों से मदद मिले, इसका सदा ध्यान रखना चाहिए। हमारी माँगें ऐसी हों और वे इस प्रकार पेश की जायँ कि उनसे हमारे प्रतिनिधियों को नींद लेने का मौका तो न मिले पर उनकी शक्ति भी कम न हो।

मैं भी जरा तेज-मिजाज आदमी हूँ। तेज मिजाज और प्रेमल आदमी की जबान बहुत चलती है। इसका मुझे अनुभव है। यही हाल संत तुकाराम का भी हुआ। 'तुका म्हणे मार्के खवळलें तोंड।' उन्होंने कहा: "अब मेरी जबान चल पड़ी है।" यों कहकर उन्होंने भगवान् को खूब गालियाँ दीं। मैं यह नहीं कहता कि किसान सभावाले-

जोर-जोर से न बोलें। किन्तु तुकाराम के समान उनका जोर प्रेम का ही। अर्थात् उनका यह जोर प्रेम का लक्षण हो। प्रेम नहीं होगा और केवल जोर ही होगा, तो जिनसे हमें एक होकर लड़ना है, वे तो बच जायँगे और जिन्हें वोट देकर हमने विधान सभाओं में भेजा है, उनसे हम झगड़ते रहेंगे।

देश का दर्द काफी हो, पर बुद्धि चली गयी, तो सब कुछ चला गया। बोलते समय विवेक न छूटे। जो बात कहे, सप्रमाण आँकड़ेवार कहें। स्वराज्य है तो लड्डू, पर वह मेथी का है। उसमें जिम्मेदारी की कड़ुआहट है। हम स्वराज्य क्यों चाहते हैं? इसलिए कि कठिनाइयाँ आने पर उनसे बचने का रास्ता ढूँढ़ने के लिए हमारी बुद्धि काम दे। आज हमें कुछ भी करना नहीं पड़ता, इसलिए हम जड़ हो गये हैं। कल यदि अंग्रेज अपनी फौजें हटा ले, तो हमें भारी पड़ जायगा। फिर भी हम उसे चाहते हैं, क्योंकि उससे हमारी बुद्धि को अवसर मिलेगा। हमें आज के ये मुलायम चावल नहीं चाहिए। ज्वार बाजरा और मक्का की कड़ी-मोटी रोटी चाहिए। बुद्धिमत्ता के जो क्षेत्र आज तक हम लोगों के लिए सर्वथा बन्द थे, अब कुछ खुल गये हैं, बस, इतना ही हुआ है। इसलिए किसानो को चाहिए कि अपने आन्दोलनों मे स्वराज्य सम्बन्धी अपनी जिम्मेवारियों को समझें, हर प्रश्न का अध्ययन करें और जो भी शब्द जबान से निकालें, नपे-तुले निकालें। मुहावरा बन जाना चाहिए कि किसान की बात ब्रह्म-वाक्य-सी होती है। सबको यह विश्वास हो जाना चाहिए कि किसान के मुँह से निकली हुई बात गैरजिम्मेदार या झूठ हो ही नहीं सकती। आज भी सरकार का हाथ कम मजबूत नहीं, खूब मजबूत है। किन्तु जनता के बल पर हमने उसे पकड़ने की हिम्मत की है। इसलिए जनता के आन्दोलनों में आवेश और उत्साह अवश्य हो, किन्तु वे प्रेम, सत्य और विवेक से युक्त तथा अपने प्रतिनिधियों के बल को बढ़ाने वाले भी होने चाहिए।

मैंने पहले जो कहा, उसे ध्यान में रखें। डालें जड़ से जुड़ी होनी चाहिए। अन्यथा दोनों का नुकसान है। किसानों और दूसरों को काग्रेस के सदस्य बन जाना चाहिए। कोई यह शिकायत न करे कि चार आना चन्दा अधिक होता है। एक वर्ष तो चार आने दे दीजिये। उसके बाद यदि आप चाहें तो अपना बहुमत बनाकर चन्दा कम कर सकते हैं। सदस्यों की सख्या यदि बीसगुनी हो जाय, तो चन्दा कम होने में क्या आपत्ति है? किन्तु यदि किसान काग्रेस के सदस्य नहीं होंगे, तो उनके आदोलन सूख जायँगे।

बाबासाहब कह रहे थे कि आज सभा में बैठने की आपको अच्छी सजा मिली। मराठी में सजा को 'शिक्षा' कहते हैं। और सस्कृत में 'शिक्षा' का अर्थ है शिक्षण, बोध। मैं उनके कथन को इसी अर्थ में ग्रहण करता हूँ। सचमुच मुझे काफी शिक्षण मिला है। समर्थ रामदास का वचन है **"सामर्थ्य चाहे चळवळीचें"** अर्थात् हलचल में बड़ी शक्ति होती है। किन्तु हम लोगों का विश्वास तो बकवास पर दीखता है। आजकल की हमारी सभाओं में मुझे तो बकवास ही बकवास नजर आती है। स्वय काग्रेस किसी समय सरकार के सामने अपनी शिकायतें पेश करनेवाला सस्था थी। उन दिनों यह बात भी उसके लिए शोभास्पद थी। बच्चा छोटा होता है, तो उसकी तोतली बोली भी माठी लगती है। किन्तु आज चालीस वर्ष बाद भी हम यह दीजिये, वह दीजिये कहते रहें और शिकायतों का रोना रोते रहें, तब हमने क्या तरक्की की? यह दो, वह दो, ठीक है, पर दें कहाँ से? असली सत्ता तो लोगों की शक्ति में है। लोगों की शक्ति बढ़नी चाहिए। गिड़गिड़ाकर भीख माँगने से वह नहीं बढ़ेगी। भारत की आर्थिक क्षति अग्रेजों के व्यापार के कारण हुई है। भारत के गाँवों की सपत्ति को बगैर बढ़ाये वह कैसे धनवान् बनेगा? 'लगान माफ कीजिये' की पुकार से क्या होनेवाला है? काग्रेस की हलचल के कारण हमें भी अपने हाथ-पैर हिलाने का आधार, आश्वासन और

अवसर मिल गया—बस, इतना ही हुआ। किन्तु इतने से हम तो यह समझने लग गये, मानो हमने अपनी मंजिल ही तय कर ली। चराई माफ हो गयी। राजाजी ने खादी के लिए २ लाख रुपये दिये। बस, हमें लगा—मंजिल तय कर ली। मैं इसे बुलबुलाहट ही कहता हूँ। क्या खादी के लिए दो ही लाख? मेरे लिए तो २०० करोड़ भी पूरे न होंगे। सारे हिन्दुस्तान को खादीमय करना हो, तो क्या दो लाख पर्याप्त होंगे? पर यह काम तो कोई भी सरकार नहीं कर सकेगी। यह तो जनता का अपना काम है।

हमारे ग्रामीण लोग शहर के लोगों से ठीक से झगड़ भी नहीं सकते। भारत में गाँवों में बनी चीजों की कीमतें बहुत घट गयी हैं। और शहरों में बनी चीजें महँगी हैं। गाँवों के लोगों को चाहिए कि शहरों के लोगों से कहें कि "घड़ी का दाम बीस रुपये बता रहे हो न? दो रुपये लोगे? नहीं, तो तुम्हारी यन्त्र-विद्या किस काम की? और मेरा मक्खन छह आने सेर माँग रहे हो? रुपये सेर के दाम लगेंगे। इसके लिए मुझे कितना खर्च और श्रम करना पड़ा है।" गाँवों के लोगों को चाहिए कि सहकारिता के आधार पर पूँजी खड़ी करें और वहाँ तरह-तरह के उद्योग शुरू करें। इसमें अब कोई किसी प्रकार की रुकावट नहीं डाल सकेगा। सरकार की तरफ से अब हमें उचित संरक्षण मिल सकता है। ऐसा कोई काम हम करें, तो वह कुछ हलचल, आन्दोलन कहा जा सकता है। अन्यथा यह निरी बुलबुलाहट ही होगी। हर गाँव को एक राष्ट्र मानकर उसकी सम्पत्ति कैसे बढ़े, इस पर सामुदायिक दृष्टि से विचार करना चाहिए। गाँव के आयात-निर्यात पर गाँव का नियन्त्रण होना चाहिए। ऐसी कुछ बातें यदि हम करें, तो हमारी सरकार की ताकत बढ़ सकती है। अन्यथा हमारे इस आन्दोलन का कोई उपयोग नहीं।

ग्राम-लक्ष्मी की उपासना : २१ :

हमारा देश बहुत बड़ा है। इसमें सात लाख देहात हैं और शहर बहुत थोड़े हैं। अगर औसत निकाला जाय, तो दस में से एक आदमी शहर में रहता है और नौ देहात में। पैंतीस करोड़ लोगों में से ज्यादा-से-ज्यादा चार करोड़ शहरों में और इकतीस करोड़ देहात में रहते हैं। किन्तु इन ३१ करोड़ का ध्यान लगातार शहर की ओर है। पहले ऐसा नहीं था। देहाती दीनवदन हो शहरों की ओर नहीं देखते थे। *लेकिन आज सारी स्थिति बदल गयी है। आज किसान के दो* ईश्वर हो गये हैं। आज तक एक ही ईश्वर था। किसान आकाश की तरफ टकटकी लगाये रहता, पानी बरसानेवाले ईश्वर की तरफ देखता। *लेकिन आज वह चीजों के भाव ठहरानेवाले देवता की तरफ भी* देखने लगा है। इसीको 'आसमानी सुलतानी' कहते हैं। आसमान भी रक्षा करे और सुल्तान भी हिफाजत करे। परमात्मा खूब फसल दे और शहर भरपूर भाव दे। इस तरह इन दो देवताओं—आकाश और अमेरिका—को किसान को पूजना पड़ता है। लेकिन ऐसे दो-दो भगवान् *काम नहीं आयेंगे। गांधीजी कहते हैं, ऊपरवाले देवता को बनाये रखो* और इस दूसरे देवता को छोड़ो। एक ईश्वर काफी है। इस दूसरे देवता याने शहरिये भगवान् की भक्ति से छुटकारा पाने का उपाय बतलाता हूँ।

हमारे गाँवों की सारी लक्ष्मी उठकर शहरों में चली जाती है। 'धनी' के घर से निकलकर बाहर चली जाती है। इस ग्राम-लक्ष्मी के पैर गाँव में नहीं ठहरते। वह शहर की तरफ दौड़ती है। पहाड़ पर पानी खूब बरसता है, पर क्या वह वहाँ ठहरता है? वह चारों ओर दौड़ता

रहता है। फिर पहाड़ सूखा का-सूखा ! इसी तरह देहात की लक्ष्मी भी चारों दिशाओं में भाग खड़ी होती है। अगर हम उसे रोक सकें, तो गाँव सुखी होंगे।

यह देहाती लक्ष्मी कौन-कौन से रास्तों से भागती है, यह देखें। उन रास्तों को बन्द करने पर ही वह रुकेगी। उसके भागने का पहला रास्ता बाजार, दूसरा शादी-ब्याह, तीसरा साहूकार, चौथा सरकार और पाँचवाँ व्यसन है। आइये, ये पाँचों रास्ते बन्द करना शुरू करें।

सबसे पहले ब्याह-शादी की बात लें। कारण, मेरी दृष्टि में वह प्रथम और सरल है। आप लोग ब्याह-शादी में कोई कम पैसा खर्च नहीं करते। उसके लिए कर्ज भी निकालते हैं। लड़की बड़ी हो जाती है, अपने ससुराल में जाकर गिरस्ती करने लगती है। लेकिन विवाह के समय के ऋण से माँ-बाप मुक्त नहीं होते। इस रास्ते को रोकने का उपाय बताता हूँ। आप कहेंगे, खर्च में कतर-ब्योंत कीजिये। भोज न दीजिये, समारोह की क्या जरूरत है ! पर यह ठीक नहीं। समारोह खूब करें। ठाटबाट में कमी न हो। लेकिन मैं अपनी पद्धति से कम खर्च में पहले से भी ज्यादा ठाट बाट आप लोगों को बतलाता हूँ।

लड़के-लड़की की शादी माँ-बाप ठीक करें। पर उतना ही उनका काम ! शादी करना, समारोह करना, सारा काम गाँव का काम हो। माँ-बाप शादी में एक पाई भी खर्च न करें। जो करेंगे, उनको जुर्माना हो, ऐसा कानून गाँववालों को बना देना चाहिए।

मान लीजिये, मेरे यहाँ शादी है। गाँव के हर आदमी को दो-दो, चार-चार आने, जो कुछ तय हो, मेरे पास लाकर देने चाहिए। समझ लें, सबने मिलकर मुझे भेंट दी। उससे मैं सारे गाँव का न्योता कर सकूँगा। बगैर पैसा इकठा किये और बगैर कर्ज किये शादी हो जायगी। गाँव में हर साल बीस पचीस शादियाँ होती होंगी। तो,

मुझे दो आने के हिसाब से २५ × २ = ५० आने, यानी मोटे तौर पर तीन रुपये देने पड़ेंगे। हरएक जाति की शादियाँ की जायँ, तो इससे भी कम खर्च पड़ेगा। मेरे यहाँ दस साल में शादी का मौका आया। मुझे हर साल दो तीन रुपये के हिसाब से दस वर्षों में तीस रुपये देने पड़े। अब मेरे यहाँ शादी का मौका आया, तो मुझ पर कोई खर्च नहीं पड़ेगा। मुझे लोग भेंट देंगे। सब गाँववाले जमा होंगे। बड़ा भारी समारोह होगा। फिर भी खर्च कितना पड़ेगा? दस वर्षों में तीस रुपये मैंने दिये हैं, वही। याने मेरे यहाँ की शादी तीस रुपये में हो गयी और उसमें सारा गाँव, सारी जाति शामिल हुई। सभी भोज में सम्मिलित हुए। लड़के लड़की को कितनी खुशी होगी? दुल्हा दुलहिन को सबके आशीर्वाद मिलेंगे। सबके आशीर्वाद पाने से और बड़ी खुशकिस्मती कौन-सी हो सकती है? शादी में लोगों को क्यों बुलाया जाता है? इसीलिए कि सबकी सदिच्छा, सबके आशीर्वाद मिलें। इन लड़के लड़की की गिरस्ती के लिए सब अपनी शुभ कामनाएँ और आशा व्यक्त करें। लड़के सिर्फ माँ-बाप के ही नहीं होते। वे सारे समाज के होते हैं। लड़के कोई अच्छा काम करेंगे, तो सारे गाँव का भला होगा। बुरा काम करेंगे, तो सारे गाँव का बुरा होगा।

अगर कोई अपने पैसे से शादी करे, तो उसे पाप मानिये। गाँववाले उसे अपना अपमान समझें। लड़के जितने अपने माँ-बाप के हैं, उतने ही सारे समाज के भी। माँ-बाप के मर जाने पर क्या वे धूर पर फेंक दिये जाते हैं? गाँव उन्हें सँभालता है, मदद करता है। वही शादी भी करेगा। आप इस रास्ते से जाकर देखिये, प्रयोग कर देखिये, साहूकार का ऋण कम होता है या नहीं। इस तरह आपका कर्ज घटेगा, झगड़े कम होंगे, सहयोग और आत्मीयता बढ़ेगी।

दूसरा रास्ता बाजार का है। आप देहाती लोग कपास बोते हैं, लेकिन वह सारा का सारा बेच देते हैं। फिर बुवाई के वक्त बिनौले तक

शहर से मोल लाते हैं। कपास यहाँ पैदा करते हैं, पर उसे बाहर बेचकर बाहर से कपड़ा खरीद लाते हैं। गन्ना यहाँ पैदा करते हैं, पर उसे बेचकर शक्कर बाहर से लाते हैं। गाँव में मूँगफली, तिल्ली और अलसी होती है। लेकिन तेल शहर की तेल-मिल से लाते हैं। अब इतना ही बाकी रह गया है कि यहाँ से अनाज भेजकर रोटियाँ बम्बई से मँगायें। आपको तो बैल भी बाहर से लाने पड़ते हैं। इस तरह सारी चीजें बाहर से लायेंगे, तो कैसे पार पायेंगे ?

बाजार में क्यों जाना पड़ता है ? जो चीजें आवश्यक हैं, उन्हें भरसक गाँव में ही बनाने का निश्चय करें। स्वराज्य याने स्वदेश का राज्य, अपने गाँव का राज्य। घर जाने पर आप लोग सोचें कि अपने गाँव में क्या-क्या बना सकते हैं। आपको कौन-कौन सी चीजें चाहिए। खेती के लिए बढ़िया बैल चाहिए। उन्हें मोल कहाँ तक लेंगे ? इस-लिए गाँव में ही बढ़िया बैल पैदा करने होंगे। गायों का अच्छी तरह पालन करें। एक-दो बढ़िया साँड़ उनमें रखें। बाकी सबको बधिया कर दें। इससे गायों की नस्ल सुधरेगी। अच्छे बैल मिलेंगे। बैलों के लिए चागडोर, नथनी वगैरह चाहिए। गाँव में ही सन, पटुआ आदि से उसे बना लें। आपको कपड़ा चाहिए, तो वह भी गाँव में बना लें। गाँव में बुनकर न हो, तो दो लड़कों को सिखा लायें। हरएक को अपने घर में कातना चाहिए। बरसात में उतना समय जरूर मिल जायगा। मूँगफली गाँव में होती है। यदि घानी शुरू करें, तो यहीं ताजा तेल मिल जायगा। गन्ना गाँव में होता है। उसका गुड़ बनायें। शक्कर की बिलकुल जरूरत नहीं। गुड़ गरम होता है, लेकिन पानी में मिलाने से ठंडा हो जाता है। गुड़ में स्वास्थ्य के लिए पोषक द्रव्य है। गुड़ बनायें। खोई जलाने के काम आयेगी। गाँव के चमार से ही जूते बनवायें। इस तरह गाँव में ही सारी चीजें बननी चाहिए। पुराने जमाने में हमारे गाँव ऐसे स्वावलम्बी थे। उन्हें सच्चा स्वराज्य प्राप्त था।

गाँव का ही अनाज, गाँव का ही कपड़ा, गाँव का ही गुड़, गाँव का ही तेल, गाँव के ही जूते, गाँव के ही ढोर, गाँव के ही बैल, गाँव का ही घर का पिसा आटा—इस रवैये को अपनायें। फिर देखें, आपके गाँव कैसे लहलहाते हैं! आप कहेंगे, यह महँगा पड़ेगा। लेकिन यह केवल कल्पना है। मैं एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। मान लें, आपके गाँव में एक रँगरेज, एक बुनकर, एक तेली और एक चमार है। आज चमार क्या करता है? वह कहता है : "मैं तेली से तेल नहीं लूँगा, क्योंकि वह महँगा पड़ता है।" तेली कहता है : "गाँव के चमार का बनाया जूता महँगा पड़ता है। इसलिए मैं शहर से जूता खरीदूँगा।" बुनकर कहता है : "मैं गाँव का सूत नहीं लूँगा। पुतलीघर का अच्छा होता है।" किसान कहता है "मैं बुनकर से कपड़ा नहीं लूँगा। मिल का लूँगा।" कारण वह सस्ता होता है। इस तरह आज हमने एक-दूसरे को मारने का धंधा शुरू किया है। एक दूसरे को निबाह लेना धर्म है। उसे छोड़कर हम एक दूसरे को मटियामेट कर रहे हैं। लेकिन जरा मजा देखिये। तेली चार आने ज्यादा देकर चमार से महँगा जूता खरीदता है। उसकी जेब से आज चार आने गये। आगे चलकर वह चमार तेली से चार आने ज्यादा देकर महँगा तेल खरीदता है। याने उसके चार आने लौट आये। अर्थात् वह महँगा नहीं पड़ता। जहाँ पारस्परिक व्यवहार होता है, वहाँ 'महँगा' जैसा कोई शब्द ही नहीं रहता। गये हुए पैसे दूसरे रास्ते से लौट आते हैं। मैं उसकी महँगी चीज खरीदता हूँ और वह मेरी महँगी चीज खरीदता है, तो हिसाब बराबर हो जाता है। उसमें क्या बिगड़ता है? जुलाहे ने खादी बनायी और तेली ने वह खरीद ली। तेली के लिए खादी महँगी है और जुलाहे के लिए तेल। बात एक ही है। तेल में जो पैसे गये, वे खादी में वापस मिले और खादी में जो गये, वे तेल में मिल गये। 'इस हाथ देना, उस हाथ लेना' इस तरह पहले गाँव में खेल ही खेल में

भाईचारे का, सहयोग का व्यवहार होता था। लेकिन वह आज लोप हो गया है।

देहात में प्रेम होता है, भाईचारा होता है। यदि देहात के लोग एक-दूसरे की जरूरतों का ख्याल न करेंगे, तो देहात देहात ही नहीं रहेंगे। शहर जैसे हो जायेंगे। शहर में कोई किसीको नहीं पूछता। सभी अपने-अपने मतलब के लिए इकट्ठे होते हैं, जैसे गोबर का ढेर देखकर सैकड़ों कीड़े जमा होते हैं। उस सड़नेवाले गोबर में सैकड़ों कीड़े बिलबिलाते हैं। वे कीड़े वहाँ क्यों इकट्ठे हुए? किसी कीड़े से पूछिये, "यहाँ क्यों आया? तेरे कोई भाई-बहन यहाँ हैं?" वह कहेगा: "मैं गोबर खाने के लिए यहाँ आया हूँ और गोबर खाने में मस्त हूँ। मुझे ज्यादा बोलने की फुरसत नहीं।" कलाकन्द, गुड़ आदि पर मक्खियाँ बैठती हैं, तो क्या प्रेम के कारण? इसी तरह शहरों में मक्खियों के समान जो आदमी भिनभिनाते रहते हैं, चींटियों की नाईं उनका ताँता लगा रहता है, वह क्या प्रेम के लिए? शहर में स्वार्थ और लोभ है। गाँव प्रेम से बनता है। गाँव में आग लग जाय, तो सब लोग अपना-अपना काम छोड़कर दौड़ आयेंगे। घर में कोई बैठा थोड़े ही रहेगा? लेकिन बम्बई में क्या दशा होगी? सब कोई कहेंगे, पानी का बम्बा जायगा, मुझे अपना काम है। इसीलिए एक कवि ने कहा है: 'खेड्यांस देव निर्मी नगरास निर्मि मनुज।' अर्थात् "गाँवों को ईश्वर बनाता है और शहरों को मनुष्य।"

हमारे बाप-दादा गाँवों में रहते थे। आज तो हर कोई शहर में जाता है। वहाँ क्या धरा है? पीले पत्थर और धूल है। यथार्थ लक्ष्मी देहात में है। पेड़ों में फल लगते हैं। खेतों में गेहूँ होता है, गन्ना होता है। यही सच्ची लक्ष्मी है। यह सच्ची लक्ष्मी बेचकर सफेद या पीले पत्थर मत लीजिये। आप शहर जाकर वहाँ से सस्ती चीजें लाते हैं। लेकिन सभी ऐसा करने लगें, तो देहात वीरान दिखाई देंगे। अगर देहातों को

सुनी देखना है, तो शहर के बाजार को छोड़ दें। गाँव की चीजें खरीदें। जो चीज गाँव में बन ही नहीं सकती, उसे तो बाहर से लायें। उसमें भी अगर वह दूसरे गाँव में बनती हो, तो वहाँ से लाना न भूलें। मान लीजिये, यहाँ चूड़ियाँ नहीं होतीं, तो 'सोनगीर' से लायें। यहाँ अच्छे लोटे नहीं बनते, तो सोनगीर से लें। यहाँ रँगरेज न हो, तो 'मालपुर' से रँगा लायें। मालपुर का रँगरेज आपके यहाँ से जुड़ ले जायगा और आप उसके यहाँ से कपड़े रँगवायेंगे। आपके गाँव में जो चीजें न बनती हों, उनके लिए दूसरे गाँव खोजें। शहर में कोई चीज खरीदने जायें, तो पहले यह सवाल पूछें कि क्या यह चीज देहात में बनी है? हाथ की बनी है? पहले उन चीजों को पसंद करें। जहाँ तक हो सके, यन्त्रों से बना शहरी माल निषिद्ध मानें।

आपकी ग्राम-पंचायतों को यह काम अपने जिम्मे लेने चाहिए। गाँव के झगड़े-टंटे हल करने का काम तो पंचायतों का है ही। लेकिन गाँव से कौन-कौन-सी चीजें बाहर जाती हैं, कौन-कौन-सी आती हैं, यह भी पंचायत को नोट करना चाहिए। नाका बनाकर फेहरिस्त बनानी चाहिए। बाद में वे चीजें बाहर से क्यों आती हैं, इसकी जाँच-पड़ताल कर उन्हें गाँव में ही बनवाने की कोशिश करनी चाहिए। गाँव में बुनकर नहीं है, तो दूसरे गाँव में दो लड़के सीखने के लिए भेज दें। हरएक को यह संकल्प कर लेना चाहिए कि गाँव की ही चीज खरीदूँगा। जो चीज मेरे गाँव में न बनती हो, उसे वहाँ बनवाने की कोशिश करूँगा। गाँव के नेताओं को इसकी तरफ ध्यान देना चाहिए। यह कैसे होगा, क्या होगा, यह न कहें। उठें और काम शुरू कर दें। चट सब हो जायगा। फिर आप ही चीजों के दाम ठहरायेंगे। तेली तेल किस भाव बेचे, चमार जूता कितने में बना दे, बुनकर की बुनाई क्या हो, सब कुछ आप तय करें। जब सभी एक-दूसरे की चीजें खरीदने लगेंगे, तो सब सस्ता ही सस्ता होगा। 'सस्ता' और 'महँगा' ये शब्द ही नहीं रहेंगे।

बतलाइये, आपके यहाँ क्या-क्या नहीं हो सकता ? नमक नहीं हो सकता ? ठीक, नमक लाइये बाजार से । मिट्टी का तेल भी ला सकते हैं। दरअसल मिट्टी के तेल की जरूरत नहीं होनी चाहिए। परन्तु उसके बिना काम ही न चलता हो, तो खरीदें। तीसरी चीज मसाले हैं। मिर्च तो यहाँ होती ही है। दरअसल तो मिर्च भी बन्द कर देनी चाहिए। मिर्च की शरीर को जरूरत नहीं है। हाँ, दियासलाई खरीदनी पड़ेगी और कुछ औजार खरीदने पड़ेंगे। दूसरा कोई चारा ही नहीं है। ये चीजें खरीदें। मिट्टी का तेल धीरे-धीरे कम करें। उसके बदले रेंडी का तेल काम मे लायें। परन्तु इसके सिवा बाकी सारी चीजें गाँव में ही बनायें। खादी गाँव में बननी चाहिए। खादी के कपड़े के लिए सूत के बटन भी यहीं बन सकते हे। दूसरे बटनों की क्या जरूरत है ? अगर छाती पर वे बटन न हों, तो क्या प्राण छटपटायेंगे ? ऐसी बात नहीं है। तो फिर उन्हें फेंक दें। इस सोने की जंजीर की क्या जरूरत है ? क्या उसके बिना चल नहीं सकता ? ऐसी अनावश्यक चीजें गाँव में लायेंगे, तो ये जजीरे पैरों को जजीर की तरह जकड़ेंगी या फाँसी की रस्सी की तरह गला घोंट देंगी। बाहर से ऐसी जंजीरें लाकर अपने शरीर को न सजायें।

भगवान् श्रीकृष्ण कैसे सजता था ? क्या वह बाहर से जजीर लाता था ? वृन्दावन में मोरों के पंख जो गिर जाते, उन्हींसे वह अपना शरीर सजाता। क्या पागल था ? मेरे गाँव के मोर हैं, उनके पखोंसे मैं अपने शरीर को सजाऊँ, तो कोई हर्ज नहीं। इसमें उन मोरों की भी पूजा है—इस भावना से वह मोरमुकुट लगाता था। और गले में क्या पहनता था ? वनमाला ! मेरी यमुना के तीर के वे फूल ! अमीर-गरीब सबको मिलते हैं। वह स्वदेशी वनमाला, देहात की वनमाला, गले में पहनता था। और बजाता क्या था ? मुरली। देहात के बाँस की बाँसुरी—वह अलगोजा। यही उसका वाद्य था।

हमारे एक मित्र जर्मनी गये थे। वहाँ का एक प्रसंग सुना रहे थे : "हम सब विद्यार्थी इकट्ठे हुए थे। फ्रांसीसी, जर्मन, अंग्रेज, जापानी, रूसी, सब एक साथ बैठे थे। सबने अपने-अपने देश के राष्ट्रीय वाद्य बजाकर दिखाये। फ्रांसीसियों ने वायालिन बजाया, अंग्रेजों ने अपना वाद्य बजाया। मुझसे कहा गया, "तुम हिन्दुस्तानी वाद्य सुनाओ।" मैं चुपचाप बैठ रहा। वे मुझसे पूछने लगे, "तुम्हारा भारतीय वाद्य कौन-सा है ?" मैं उन्हें बता न सका।

मैंने उससे कहा - "अजी, हमारा राष्ट्रीय वाद्य बाँसुरी है। लाखों गाँवों में वह पायी जाती है। सीधा सादी, पर मीठी ! कृष्ण भगवान् ने उसे पुनीत किया है। एक बाँस की नली ले ली, उसमें छेद बना लिये, बस तैयार हो गया वाद्य !" ऐसा वाद्य श्रीकृष्ण बजाता था। वह गोकुल का स्वदेशी देहाती वाद्य था।

अच्छा, श्रीकृष्ण खाता क्या था ? क्या वह बाहर की चीनी लाकर खाता था ? नहीं। वह अपने गोकुल का दूध, मक्खन खाता था। दूसरों को खाना खिलाता था। ग्वालिनें गोकुल की यह लक्ष्मी मथुरा ले जाती थीं। परन्तु गाँव की इस अन्नपूर्णा को कन्हैया बाहर नहीं जाने देता था। वह उसे लूटकर सबको बाँट देता। सारे गोकुल के बालक उसने हृष्ट-पुष्ट किये। जिन्होंने गोकुल पर चढ़ाई की, उनके दाँत अपने मित्रों की मदद से खट्टे कर दिये। गोकुल में रहकर भी वह क्या करता था ? गायें चराता था। उसने दावानल निगल लिया, याने क्या किया ? देहातों को जलानेवाले लड़ाई झगड़ों का खातमा कर दिया। सब लड़कों को इकट्ठा किया। प्रेम बढ़ाया। इस तरह यह श्रीकृष्ण 'गोपाल-कृष्ण' है। वह आपके गाँव का आदर्श है। गोपाल कृष्ण ने गाँवों का वैभव बढ़ाया, गाँवों की सेवा की, गाँवों पर प्रेम किया, गाँवों के पशु पक्षी, गाँव की नदी, गाँव का गोवर्धन पर्वत— सब पर उसने प्रेम किया। गाँव ही उसका देवता रहा। आगे

चलकर वे द्वारिकाधीश बने। फिर भी गोकुल में आते, गाय चराते थे, गोबर में हाथ डालते, गौशाला बुहारते, वनमाला पहनते, बंसी बजाते और लड़कों, गोपबालों के साथ खेलते। 'व्रजकिशोर' उनका प्यारा नाम था। 'गोपाल' उनका प्यारा नाम था। उन्होंने गोकुल में असीम आनन्द और सुख छा दिया।

'गोकुळींच्या सुखा ! अंतपार नाहीं देखा ॥'

गोकुल का सुख असीम था। ऐसे गोकुल के अन्न के चार कणों के लिए देवता तरसते थे। प्रेममस्त गोपाल-ग्वाल जब भोजन कर 'दही-कलेवा' खाकर यमुना के जल में हाथ धोने जाते, तो देवता मछली बनकर वे जूठे अन्न-कण खाते। उनके स्वर्ग में क्या वह प्रेम था? उन्हें पैसे की कमी नहीं थी, लेकिन उनके पास प्रेम नहीं था। हमारे शहर आपके स्वर्ग हैं न? वहाँ प्रेम नहीं है। भोग हैं, पैसे हैं, पर आनन्द नहीं है। अपने गाँवों को गोकुल के समान बनायें। तब वे नगर के नगरसेठ आपके गाँव की नमक-रोटी के लिए लालायित हो दौड़ते आयेंगे। हमें देहातों को हरा-भरा गोकुल बनाना है—स्वावलंबी, आरोग्य-संपन्न, उद्योगशील और प्रेमल बनाना है। ईख का कोल्हू चल रहा है, चरखा चल रहा है, धुनिया धुन रहा है, तेल का कोल्हू चू-चर्र बोल रहा है, कुँए पर मोट चल रही है, चमार जूता बना रहा है, गोपाल गायें चरा रहा है और बंसी बजा रहा है—ऐसा गाँव बनने दें। अपनी गलती से हमने गाँवों को मरघट बना दिया है। आइये, अब फिर उसे गोकुल बनायें।

हम कागज एरंडोल का खरीदें। दंतमंजन राख का बनायें। ब्रश दतौन के बनायें। विदेशी कागज की झंडियाँ और पताकाएँ हमें नहीं चाहिए। अपने गाँव के पेड़ों के पल्लव—आम-आम्र-पल्लव लें। उनके तोरण और वदनवार बनायें। गाँव के पेड़ों का अपमान क्यों करते हैं? बाहर से चीजें लाकर वदनवार लगायेंगे, तो गाँव के वृक्ष रोयेंगे। वे

समारोह में हाथ बँटाना चाहते हैं। उनकी कोंपल लाइये। हमारे धार्मिक मंगल-उत्सवों के लिए क्या कागज के तोरण निहित हैं? आम के शुभ पल्लव और घड़ा चाहिए। कलश चाहिए। सो क्या टीन का होगा? वह पवित्र कलश मिट्टी का ही चाहिए। आपके गाँव के कुम्हार का बना चाहिए। देखिये, हमारे पूर्वजों ने गाँव की चीजों की कैसी महिमा बढ़ायी है। उसी दृष्टि को अपनायें। सारा नूर पलट जायगा। इधर-उधर दूसरी ही दुनिया दिखाई देने लगेगी। समृद्धि और आनन्द लहलहाने लगेगा।

हमने ब्याह शादी की बात का विचार किया। बाजार के सवाल का विचार किया। अब पहले व्यसनों की बात लेते हैं। अपने वश की बातें पहले ले लें। बाद में सरकार और साहूकार की बात सोचेंगे।

कोई दिनभर 'फू फू' बीड़ी फूँकते रहते हैं। कहते हैं, बीड़ियाँ तो घर की ही हैं, वे कहाँ बाहर से आती हैं? अरे भाई, जहर अगर घर का हो, तो क्या खा लोगे? घर का जहर खाकर पूरे सोलह आने स्वदेशी मृत्यु को स्वीकार करोगे? जहर चाहे घर का हो या बाहर का, त्याज्य ही है। इसी तरह सभी व्यसन बुरे हैं। उन सबको छोड़ना चाहिए। वे प्राणघातक हैं। शराब के बारे में कहें, तो पहले महाराष्ट्र में शराब नहीं थी। महाराष्ट्र का पहला गवर्नर एलफिंस्टन साहब था। उसने महाराष्ट्र का इतिहास लिखा है। उसमें वह कहता है "पेशवाओं के राज में शराब से आमदनी नहीं थी।" लेकिन आज तो गाँव गाँव में पियक्कड़ हैं। सरकार उल्टे उन्हें सुभीता कर देती है। लेकिन सरकार सुविधा कर देता है, इसलिए क्या हम शराब पियें? हिन्दुस्तान में दो मुख्य धर्म हैं हिन्दू धर्म और इसलाम। दोनों धर्मों में शराब पीना महान् पाप माना गया है। इसलाम में शराब हराम है। हिन्दू-धर्म में शराब की गिनती पंच-महापातकों में होती है। शराब पीकर आखिर हम क्या खोते हैं? प्राणों का, कुटुम्ब का, धन का और इन सबसे प्रिय धर्म का—सभी चीजों का नाश होता है।

बीड़ी और शराब के बाद तीसरा व्यसन है, बात-बात में तकरार करना। कृष्ण ने झगडे का दावानल निगल लिया। तकरार न करें। अगर झगडा हो ही जाय, तो गाँव के चार भले आदमी बैठकर उसका तसफीया करें। अदालत की शरण न लें। अदालतें आपके गाँवों में ही चाहिए। जिस प्रकार और चीजें गाँव की ही हों, उसी प्रकार न्याय भी गाँव का ही हो। आपके खेतों में सब कुछ पैदा होता है। लेकिन न्याय आपके गाँव में न पैदा हो, तो कैसे काम चलेगा? गाँव का धान्य, गाँव का वस्त्र और गाँव का ही न्याय हो। बाहर की कचहरी, अदालतें किस काम की? चीजों के लिए जिस तरह हम परावलम्बी न होंगे, उसी तरह न्याय के लिए भी नहीं होंगे। प्रेम से रहें। दूसरे को थोड़ा-बहुत अधिक मिल जाय, तो भी वह गाँव में ही रहेगा। लेकिन दूर चला जाने पर न हमें मिलेगा, न आपको, सारा भाड़ में जायगा। गाँव में ही पंचों मे परमेश्वर है। उसकी शरण लें।

भोजन वगैरह दीगर बातों का ऊहापोह यहाँ नहीं करता। जीवन निर्मल और विचारमय बनायें। हरएक काम विवेक-विचार से करें।

चौथी बात साहूकार की है। आप ही अपने घर कपास लोढ़कर बीज के लायक बिनौले सँभालकर रख लें, घर में ही कपड़ा बना लें, मूँगफली, अलसी घर में रखकर गाँव के कोल्हू से तेल पेरवा लें, अदालत-इजलास में जाना बन्द कर दें, गाँव ही में सारे झगड़े तय करें और मेरे बतलाये ढंग से ब्याह-शादियाँ करें, तो साहूकार की जरूरत बहुत कम पडेगी। फिर भी सभी लोग साहूकार के पाश से छुटकारा नहीं पायेंगे। कर्जदार फिर भी रहेंगे। लेकिन कर्ज की तादाद कम हो जायगी।

आपकी कर्जदारी का सवाल स्वराज्य के बिना पूरी तरह हल नहीं होगा। स्वराज्य में सबके हिसाब जाँचे जायँगे। जिस साहूकार को मूलधन के बराबर ब्याज मिल चुका होगा, उसका कर्ज अदा हो चुका, ऐसा

घोषित किया जायगा। जिस साहूकार का मूलधन भी न मिला होगा, सूद के रूप में भी न मिला हो, उससे समझौता करेंगे। इसी तरह के उपायों से यह सवाल हल करना होगा। तटस्थ पंच मुकर्रर कर तहकीकात के बाद जो उचित होगा, किया जायगा। तब तक आज के बतलाये उपायों से काम लेना चाहिए और धीरे-धीरे साहूकार से दूर रहने की कोशिश करनी चाहिए। परन्तु कर्ज चुकाने के फेर में बाल-बच्चों की उपेक्षा न करें। बच्चों को दूध घी दें। भरपूर भोजन दें। लड़के सारे समाज के हैं। हम अपने साहूकार से कहें कि "मैं अपने बच्चों को थोड़ा दूध दूँ? उन्हें दूध की जरूरत है। बच्चे जितने मेरे हैं, उतने ही तुम्हारे भी। वे सारे देश के हैं।" लड़कों को देने में आप साहूकार को ही देते हैं। इसलिए पहले भरपेट खायें, बाल बच्चों को खिलायें, घर की हाजतें पूरी होने पर कुछ बकाया रहे, तो साहूकार को दें। कर्ज तो देना ही है, पर खा-पीकर देना है. भोग विलास के बाद नहीं।

इस तरह हमने गाँव की लक्ष्मी के बाहर जाने के चार दरवाजे बताये और उन्हें बन्द करने के उपायों की दिशाएँ भी बतायीं। अब पाँचवीं बात सरकार है। यह सरकार कैसे बन्द की जाय? आप अपनी चीजें अपने गाँव में बनाने लगें, तो सरकार अपने-आप सीधी हो जायगी। सरकार यहाँ क्यों रहती है? विलायत का माल आसानी से आप बेवकूफों के हाथ बिक सकता है। इसलिए कल बुद्धिमान् बनकर अगर आप अपने गाँव स्वावलंबी बनायेंगे, तो सरकार अपने-आप नरम हो जायगी। जिस चीज की जरूरत हो, उसे गाँव में ही बनायें। जो इस गाँव में न बन सके, उसे दूसरे गाँव से लायें। शहर के कारखानों का बहिष्कार करें। विदेशी चीजों की तो बात ही कौन पूछता है? विदेशी और स्वदेशी कारखानों को आप अपने गाँव से जो खाद्य पहुँचाते हैं, उसे बन्द करें। आपस में एकता लायें।

लड़ना झगड़ना छोड़ दें। अगर लड़ें भी, तो गाँव में ही फैसला करें। कचहरी-अदालतों का मुँह न देखने का संकल्प करें। गाँव की ही चीजें, गाँव का ही न्याय! अगर ऐसा करेंगे, तो 'एक पथ दो काज' होंगे। दरिद्रता का कष्ट दूर होगा और सरकार अन्तर्धान हो जायगी।

पहले दूसरे कई राज्य हुए, तो भी देहात का यह वास्तविक स्वराज्य कभी नष्ट नहीं हुआ था। इसीलिए हमें रोटियों के लाले नहीं पड़े। परन्तु अंग्रेजी राज्य में यह खादी का स्वराज्य, देहाती उद्योग-धन्धों का स्वराज्य नष्ट हो गया। इसीलिए देहात वीरान और डरावने दिखाई देने लगे। मेरे बतलाये उपायों से अपने गाँव स्वावलम्बी, उद्यमी, प्रेममय बनायें, इसीमें सब कुछ है*।

ग्राम-सेवा वृत्त ५-४

* खानदेश-यात्रा के समय 'कासार' में दिया हुआ प्रवचन।

गाँव का स्वास्थ्य : २२ :

उस दिन पवनार का एक लड़का मुझे रास्ते में मिला। बोला : "मुझे खुजली हो गयी है, कोई उपाय बताइये!" मैंने उसे थोड़े में एक मंत्र कहा : रोज सबेरे गाय का ताजा मट्ठा पिओ, इससे तुम्हारा रोग जाता रहेगा। गाँव के मेरे सारे अनुभव का यह निचोड़ है कि गाय का ताजा मट्ठा गाँव के लिए एक भारी तारक (तारनेवाला) तत्त्व है। इसके लिए मैंने एक संस्कृत-सूत्र बनाया है : 'तक्रं तारकम्।'

गाँव में खाज-खुजली, दाद आदि चर्मरोग छोटे बच्चों से लगाकर बूढ़ों तक सबको दिखाई देते हैं। मुझे इसके जो कारण जान पड़े, वे उपाय सहित बतलाता हूँ :

१. अस्वच्छ रहन-सहन : और उसमें भी नहाने की लापरवाही। रोज न नहानेवाले भी हैं; लेकिन जो रोज नहानेवाले हैं, उनका भी नहाना 'नहाना' नहीं कहला सकता। नहाना तो पूरा नहीं होता, अलबत्ता 'भीगे कान और हुए असनान' की कहावत पूरी होती है। सारे बदन को रगड़कर नहाने की कौन कहे, पूरा बदन गीला तक नहीं करते। इसलिए घर में परदेदार नहाने की जगह चाहिए, जहाँ नंगे होकर नहाने की आदत और रिवाज डालना सिखाया जाना चाहिए। गुप्त अंगों को अच्छी तरह मलकर धोना चाहिए। यह सार्वत्रिक शिक्षण का विषय है।

२. पीने का अस्वच्छ पानी : खासकर नदी किनारे के गाँवों में और उसमें भी बरसात के दिनों में लोग जो पानी पीते हैं, वह बहुत ही गन्दा होता है। इसका साधारण-से-साधारण उपाय पानी को औटाकर पीना है। हरिजन-बस्तियों में तो स्वच्छ पानी नसीब ही नहीं होता। हरिजनों के पानी का सवाल बिलकुल सामान्य भूतदया—

का सवाल है। ऐसे मामूली सवाल की ओर से जो समाज आँखें मूँदता है, वह स्वराज्य के लायक कैसे समझा जा सकेगा?

३. भोजन की कमी और भूलें : इस शीर्षक मे तीन मुख्य दोष आते हैं। इन्हे मैं गाँव के आहार के त्रिदोष कहा करता हूँ—

(अ) जिसे भोजन की भूल कहा जायगा, वह है, सड़ी-घुनी चीजों का उपयोग। गाँव में मास और मछली जो मोल लेकर खायी जाती है, प्रायः उसे 'सड़ा' ही कहा जा सकता है। महारोग बढ़ रहा है। विशेषज्ञों ने उसके कारणों की अभी सूक्ष्म छानबीन नहीं की है। फिर भी एक कारण सड़ी या गन्दी मछली भी है। 'घुना' याने मजदूरों के पल्ले पड़नेवाला अनाज कई बार रद्दी-से रद्दी होता है। देहात के महाजनों को इस ओर ध्यान दिये बिना सुधार होना अशक्य है।

(आ) गाँव के आहार में जो एक जबरदस्त कमी है, वह है रोज के भोजन मे तरकारी का अभाव। तरकारी के महत्त्व पर ज्यादा लिखने की जरूरत नहीं है, क्योंकि वह एक सर्वमान्य बात है। किसानों की खुराक में किसी-किसी मौसम में तो तरकारी का नाम भी नहीं होता। कहनेवाले तो अनाज से चौगुनी तरकारी खाने की बात तक पहुँचते हैं। मैं यह नही कहूँगा। उल्टे मैं तो मानता हूँ कि तरकारी का परिमाण साधारणतः थोड़ा ही होना चाहिए; फिर भी प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति दस तोला तरकारी तो किसान के भोजन में अवश्य होनी चाहिए।

(इ) भोजन में दूसरी कमी है गाय के मट्ठे की, जिसका उल्लेख लेख के आरम्भ ही में किया गया है। रोज की खुराक में कुछ-न-कुछ पाचक अम्लतत्त्व होना जरूरी है। गाय का ताजा मट्ठा, यह थोड़े प्रयत्न से सबको रोज मिल सकने योग्य उत्तम अम्ल है। इसके सिवा दूध का सारा ओज (प्रोटीन) मट्ठे में है। खनिज लवण भी उसमें भरपूर है। बरार, नागपुर की ओर के ग्रामीण आहार में प्रायः अम्ल

नहीं रहता। ज्वार की रोटी, नमक तथा हलदी डाली हुई सादी दाल—ये दो उत्तम वस्तुएँ उनके आहार में होती हैं। इसके सिवा बेसन का 'पिठले', जिसे वे 'चून' कहते है और जिसमे मिर्च आदि जीभ चरचरानेवाली चीजें पड़ी होती है, एक गौण खाद्य है, जिसे वे बड़ी रुचि से खाते हैं। फलस्वरूप उनमे खुजली आदि रक्तदोष काफी दीख पड़ते हैं। यदि सुबह के कलेवे में पावभर मट्ठा किसानों को दिया जाय, तो उतने से ही ये सारे रोग दूर हो जाते हैं। यह मैंने स्वयं देखा है।

थोडे प्रयत्न से इतना मट्ठा मिल सकता है, यह ऊपर कहा जा चुका है, पर उतना प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा न?

ग्राम-सेवा वृत्त ६-२

जेल में तटस्थ चिंतन के लिए थोड़ा-बहुत अवकाश मिल जाता है। इसलिए हमारे आन्दोलन के विषय में और हिंदुस्तान तथा ससार की सारी परिस्थिति के विषय में बहुत अच्छा विचार हुआ, चर्चा भी हुई। कुल मिलाकर परिस्थिति बहुत बिगड़ी हुई मालूम होती थी। ऐसे समय कौन-से उपाय करने चाहिए, इसका चिंतन हम वहाँ करते थे। लेकिन हमारे जेल से छूटने के थोड़े ही दिन बाद जापान और अमेरिका के लड़ाई में शामिल हो जाने से परिस्थिति और भी बिगड़ गयी। इसलिए जेल में किये हुए कुछ विचार अधूरे मालूम हुए और कुछ दृढ़। इस युद्ध के विरोध में हम प्रायः तीन कारण दिया करते थे। पहला कारण, युद्ध की हिंसकता। दूसरा, दोनों पक्षों की न्यूनाधिक साम्राज्यवादी तृष्णा। और तीसरा, हिन्दुस्तान की सम्मति न लेना। लेकिन जापान और अमेरिका के मैदान में कूद पड़ने के बाद तो अब करीब-करीब सारा ससार ही युद्ध में शामिल हो गया है। अब यह युद्ध मनुष्य के हाथ में नहीं रहा, वरन् मनुष्य ही युद्ध के अधीन हो गया है। इसलिए यह युद्ध स्वैर या मूढ़ है। हमारे युद्ध-विरोध का यह और एक नया कारण है। वासुदेव कॉलेज (वर्धा) में भाषण देते हुए मैंने इसी पर जोर दिया था।

लेकिन इस प्रकार ससार के सभी बड़े राष्ट्रों के युद्ध में सम्मिलित हो जाने से हिन्दुस्तान की, जो पहले से ही एक दरिद्र और विषम परिस्थिति मे ग्रस्त देश है, दशा और भी विषम हो गयी है। अंग्रेजी राज से पहले हिन्दुस्तान स्वावलम्बी था। इतना ही नहीं, वह अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर विदेशों को भी थोड़ा-बहुत माल भेजा करता था। लेकिन आज तो पक्के माल के लिए हिन्दुस्तान करीब-

करीब पूर्ण परावलम्बी हो गया है। राष्ट्रीय रक्षा के साधन, युद्ध-विषयक सरंजाम आदि में जो परावलम्बन है, उसकी बात मैं नहीं कहता। हालाँकि अगर अहिंसा का रास्ता खुला न हो, तो राष्ट्रीय दृष्टि से इस बात का विचार भी करना ही पड़ता है। लेकिन मैं तो सिर्फ जीवनोपयोगी नित्य आवश्यकताओं की ही बात कह रहा हूँ। ये चीजें आज हिन्दुस्तान में नहीं बनतीं और फिलहाल वे बाहर से कम आ सकेंगी। लड़नेवाले राष्ट्र युद्धोपयोगी सामग्री बनाने की ही चिन्ता में लगे रहेंगे। उनके पास बाहर भेजने के लिए बहुत कम माल तैयार होगा। इसके बाद भी जो माल तैयार होगा, वह दूसरे राष्ट्रों तक न पहुँच पाये, इसकी व्यवस्था शत्रु-राष्ट्र अवश्य करेंगे। अमेरिका से माल आने लगे, तो जापान उसे डुबो देगा और जापान से तो माल आ ही नहीं सकेगा। इस तरह अगर बाहर से पक्का माल आना कम हो जाय या बन्द हो जाय, तो हिन्दुस्तान की दशा बहुत ही बुरी होगी। नया पक्का माल यहाँ बनाने के विषय में सरकार अगर जान-बूझकर नहीं, तो परिस्थिति के कारण अवश्य उदासीन रहेगी। उसका सारा ध्यान लड़ाई पर केन्द्रित है, इसलिए उसे दूसरी गम्भीर योजनाएँ नहीं सूझेंगी। गम्भीरता से जो कुछ विचार होगा, वह केवल युद्ध के विषय में ही होगा। अगर सरकार की यही वृत्ति रही कि हिन्दुस्तान का जैसे तैसे रक्षण--यानी उसे अंग्रेजों के कब्जे में बनाये रखना—भर हमारा कर्तव्य है, तो कोई आश्चर्य नहीं।

ऐसी अवस्था में हम कार्यकर्ताओं पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ती है। उस दिन दादा धर्माधिकारी मेरे पास आये थे। उनसे मैंने अपनी इस दशा का जिक्र किया था। उसके विषय में उन्होंने 'सर्वोदय' में एक टिप्पणी लिखी है। यों लोगों पर यह इलजाम लगाया जाता था कि खादी की बिक्री काफी नहीं होती, उसके लिए लोगों की मिन्नतें करनी पड़ती हैं। अब हम पर यह इलजाम आनेवाला है

कि इस लड़ाई की परिस्थिति में लोगों की माँग हम पूरी नहीं कर सकते। ऐसे सकट के समय अगर हम खादी के काम को तरक्की न दे सकें, तो खादी के भविष्य के लिए बहुत कम आशा की गुंजाइश रहेगी।

जाजूजी ने 'खादी-जगत्' द्वारा हाल ही में एक योजना पेश की है। उसमें उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि सरकार बेकारों को जितने उद्योग दे सकती है, उतने अवश्य दे; लेकिन सरकार की शक्ति खतम होने पर भी अगर भूख बाकी रह जाय, तो उतने अंश में खादी को प्रोत्साहन देना सरकार का कर्तव्य है। किसी भी सरकार को खादी का यह कार्यक्षेत्र प्रायः मजूर करना पड़ेगा।

लेकिन इस योजना का स्वरूप तो ऐसा है कि मानो जहाँ हम प्रवेश नहीं पा सकते, वहाँ धीरे से अपनी पोटली रख देते हैं। अपने घर पर कब्जा करनेवाले से हम कहते हैं : "भैया, मकान तेरा ही सही। लेकिन तेरा यह खयाल गलत है कि मकान बिलकुल भर गया है। वह देखो, उस कोने में थोड़ी-सी जगह खाली है। मेरी यह पोटली वहाँ पड़ी रहने दो।" हमारा यह आक्रमण मनुष्य से अपेक्षित न्यूनतम सद्गुणों पर होता है, इसलिए उसका परिणाम होकर रहता है।

परन्तु इस प्रकार की अकाल-पीड़ित खादी खादी की बुनियाद नहीं हो सकती। आज जिस तरह खादी का उत्पादन और बिक्री हो रही है, वह भी उसकी बुनियाद नहीं है। खादी की इमारत का वह एक भाग जरूर है। खादी की अन्तिम योजना में भी उत्पत्ति-बिक्री का स्थान रहेगा, और आज से कहीं अधिक रहेगा। लेकिन वह खादी की सम्पूर्ण योजना का एक अगमात्र है।

इसी तरह आज जगह-जगह जो वस्त्र-स्वावलम्बन जारी है, उससे —यानी इस गाँव में चार वस्त्र-स्वावलम्बी आदमी हैं, उस तहसील में

सौ-दो-सौ हैं, इसी प्रकार दूसरे गाँवों में भी वस्त्र स्वावलम्बन शुरू करते रहने से—भी हमारा मुख्य काम नहीं होता। यह तो चौराहों पर जगह-जगह म्युनिसिपैलिटी की बत्तियाँ लगाने सरीखा है। इन बत्तियों का भी उपयोग तो है ही। उनके कारण चारों तरफ का वातावरण प्रकाशित रहेगा। लेकिन चौक की बत्तियाँ घर के चिरागों का काम नहीं देतीं। इसलिए यह इस तरह बिखरा हुआ वस्त्र-स्वावलंबन भी खादी का मुख्य कार्य नहीं है।

खादी की नींव तो यह है कि किसान जैसे अपने खेत में अनाज उपजाता है, उसी तरह वह अपना कपड़ा अपने घर में बनाये। शायद शुरू से हम इस तरह काम न कर पाते, इसलिए हमने खादी का काम दूसरे ढंग से शुरू किया। लेकिन वह भी अच्छा ही हुआ। इससे खादी को गति मिली और लोगों को थोड़ी-बहुत खादी हम दे सके।

लेकिन अब तो लोगों की खादी की माँग बढ़ेगी। आज के तरीके से हम उसे पूरा नहीं कर पायेंगे। ऐसी स्थिति में अगर हम लाचार होकर चुपचाप बैठे रहेंगे, तो दोषी समझे जायेंगे। यह दोषारोपण न्यायानुकूल ही होगा। कारण खादी को बीस साल का समय मिल चुका है। हिटलर ने बीस वर्षों में एक गिरा हुआ राष्ट्र खड़ा कर दिया। सन् १९१८ में जर्मनी का पूरा पराभव हुआ और सन् १९३८ में वह प्रथम श्रेणी का राष्ट्र बन खड़ा हुआ। रूस ने भी जो कुछ ताकत कमायी, वह गत बीस वर्षों में ही। इतने समय में उसने दुनिया को आकृष्ट कर देनेवाले एक नवीन विचार और आचार की प्रणाली का निर्माण किया। ये दोनों प्रयोग हिंसामय या हिंसाश्रित हैं, इसलिए उनकी स्थिरता खतरे में है, यह अलग बात है। कहा तो यही जायगा कि खादी को भी इसी प्रकार बीस वर्ष तक मौका दिया गया। इतने समय में खादी अधिक प्रगति नहीं कर सकी, इसके अनेक कारण हैं। इसलिए जर्मनी या रूस से तुलना कर हमें अपने तईं अपना धिक्कार करने की

जरूरत नहीं है। फिर भी ऐसे संकट के मौके पर अगर हम लाचार बन गये, तो, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, खादी के लिए एक कोना दिखाकर उतने से संतुष्ट रहना पड़ेगा। लेकिन यह खादी की मुख्य दृष्टि—जिसे अहिंसा की योजना मे करीब-करीब केन्द्रस्थान है—छोड़ देने के समान होगा। कम-से-कम हिंदुस्तान मे तो खादी और अहिंसा का गठ-बधन अटूट समझना चाहिए।

जब लोगों की खादी की माँग बढेगी, तो हम उनसे कहेंगे : "सूत कातो।" तब वे कहेंगे : "हमें पूनियाँ दो।" हमारे आदोलन मे पूनियों की समस्या बड़ी टेढ़ी है। पूनियों के बाद की क्रिया अपेक्षाकृत सरल है। लेकिन पूनियों का सवाल हम शास्त्रीय या लौकिक पद्धति से अब तक हल नहीं कर सके हैं। तब लोगों से कहना होगा : "तुम अपने लिए धुनो।" इसमें ताँत का सवाल आयेगा। पक्की ताँत की व्यापक माँग एकदम पूरी नहीं की जा सकती। इसलिए काम रुक जायगा। इसका ज्यों-ज्यों मैं विचार करता हूँ, त्यों-त्यों मेरी निगाह उस 'दशयत्र पींजन' पर ठहरती है। पाँच और पाँच दस अँगुलियों से जो काम होता है, उसे 'दशयत्र' कहते हैं। सोमरस दस अगुलियों से निचोड़ा जाता है। इसलिए वेदों म 'दशयंत्राः सोमाः' का उल्लेख है। इसी तरह यह तुनाई का दशयत्र-पींजन है। वह बहुत लाभदायी और सारी दिक्कतों से बचानेवाला साबित होगा। रबर लगाने के नये तरीके की खोज ने इस दशयत्र पींजन में क्राति कर दी है। उसके कारण यह काम आसान हो गया है। यह सच है कि रबर सर्व-सुलभ नहीं है। लेकिन उसका भी विचार हो सकता है। फिर वह इस काम के लिए अनिवार्य भी तो नहीं है।

उस दिन मैं खरागना गया था। वहाँ मैंने इस दशयंत्र-पींजन का प्रदर्शन किया। दर्शकों में से एक ने कहा : "जरा मैं भी देखूँ।" और देखते-देखते उसने पन्द्रह-बीस मिनटों में, अगर अच्छी नहीं तो,

साधारण पूनी बना ली। इसे सीखना इतना आसान है। उसकी गति भी व्यवहार-सुलभ है। इस सम्बन्ध के कुछ आँकड़े वल्लभस्वामी ने अपने एक लेख में दिये हैं। नागपुर जेल में मैंने जो प्रयोग किये, उनके आधार पर मैंने भी जेल में ही इस विषय पर एक लेख लिखा था। रामदासजी गुलाटी को जब तुनाई करके दिखायी गयी, तब वे कहने लगे कि मिल की पूनी के लगभग सभी गुण इस पूनी में हैं और वैज्ञानिक दृष्टि से यह पूनी करीब करीब निर्दोष है। इस दशयन्त्र-पींजन का सर्वत्र प्रचार करने के लिए ग्राम सेवा मण्डल में और अधिक शोध और प्रयोग होने चाहिए। इसी तरह गाधी सेवा सघ और चरखा सघ को इसे प्रोत्साहन देना चाहिए। उससे खादी काम की बहुत बड़ी असुविधा दूर हो सकेगी।

दूसरी महत्त्व की बात यह है कि बुनकर खुद कातकर उसी सूत की खादी बुनें। इसकी तरफ जाजूजी ने सबका ध्यान दिलाया है। हिन्दुस्तान में बुनकरों का बहुत बड़ा वर्ग है। लड़ाई के समय उनके लिए कोई इतजाम नहीं हो सकेगा। इसलिए उन्हें भी इस खादी के काम में लगाना चाहिए। मैं कई तरह के आँकड़ों से इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि आज दूसरों का काता हुआ भला बुरा सूत बुनने के लिए बुनकर जो मजदूरी पाता है, उससे कम मजदूरी उसे अपना सूत बुनने में नहीं मिलेगी। अपना सूत बुनना उसके लिए अधिक आसान तो होने ही वाला है। इस विषय में भी व्यापक प्रयोग की आवश्यकता है।

इसीके साथ साथ वस्त्र-स्वावलम्बी लोगों को सूत वहीं के वहीं बुनवाने का प्रबध करना होगा। इसके लिए स्वावलबी व्यक्तियों के सूत में उन्नति होना जरूरी है। सूत में उन्नति की बात आते ही फिर 'दशयन्त्र-पींजन' पर ही ध्यान जाता है। साधारण 'यन्त्र-पींजन' वैसे उपयोगी भले ही मान लिया जाय, तो भी लड़ाई के जमाने की व्यापक

योजना में वह निरुपयोगी है। मेरा यह दावा है कि उस यंत्र से उतनी शास्त्रीय पूनी नहीं बनती, जितनी इस दशयंत्र से बनती है।

किन्तु इसमें यह मानी हुई बात है कि यह दशयंत्र-पींजन या बुनाई कपास से ही होनी चाहिए। आज सब जगह प्रायः सारी क्रियाओं में रूई ही काम में लायी जाती है। अब रूई की जगह कपास का उपयोग करना चाहिए। किसान को अपने खेत में से अच्छी बड़ी-बड़ी डोडीवाले कपास का संचय करना चाहिए। फिर उसे सलाई-पटरी जैसे साधन से ओट लेना चाहिए। इसमें प्रायः एक भी बिनौला नहीं बिगडेगा। किसान छाँट-छाँटकर अच्छी-अच्छी डोडियाँ बीनेगा। इसलिए उसे अच्छा बीज मिलेगा और उसका खेत समृद्ध होगा। इस प्रकार कपास से शुरू करने में अनेक लाभ हैं। रूई से शुरू करने में हम उन्हें गँवा देते हैं।

खादी का समग्र-दर्शन इतना दृढ़ अर्थशास्त्र पर खड़ा है कि उससे सस्ता और कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकता। लेकिन उसकी जगह बीच की ही किसी अलग प्रक्रिया को खादी की प्रक्रिया मान लेना खादी को अकारण बदनाम करना है।

कार्यकर्ताओं को समग्र-दर्शन के इस विचार पर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए। कहा जाता है कि मिलें सस्ती पड़ती हैं। हम हिसाब करके दिखा देते हैं कि वे महँगी हैं। मिलों में व्यवस्थापक-वर्ग का जबरदस्त खर्च, यंत्र, यंत्रों का घिसना, माल का लाना-ले जाना, मालिकों का अजस्र मुनाफा आदि कई आपत्तियाँ स्पष्ट ही हैं। फिर भी अगर मिल सस्ती मालूम होती है, तो या तो उसमें कोई जादू होना चाहिए या फिर हमारे एतराज गलत होने चाहिए। एतराज तो गलत नहीं कहे जा सकते। तो फिर अवश्य तिलस्म है। वह जादू यह है कि मिल एक विराट् यांत्रिक रचना की जंजीर की एक कड़ी है। बड़े कारखानों में मुख्य उद्योग के साथ-साथ उससे संबंध रखनेवाले

दूसरे भी छोटे-छोटे उद्योग हैं। कारखाना उन उद्योगों के लिए नहीं चलता। इसलिए उन्हें गौण पैदावार कहते हैं। इन गौण उद्योगों से जो आमदनी होती है, उससे प्रधान उद्योग को लाभ होता है और यह सब मिला वह कारखाना आर्थिक दृष्टि से पुसाता है। मिल की यही स्थिति है। वह एक समग्र-विचार-श्रृंखला की कड़ी है।

मिलों के साथ-साथ रेल आयी। शांति के समय माल लाना-ले जाना उनका प्रधान कार्य है। यात्रियों को भी उनसे लाभ होता है। लोगों को लंबे सफर करने की आदत हो जाती है। उनके विवाह-संबंध भी दूर-दूर के स्थानों में होने लगते हैं और इस तरह रेल उनके जीवन की एक आवश्यकता हो जाती है। फिर उससे फायदा उठाकर मिलों के विषय में सस्तेपन का एक भ्रम पैदा किया जा सकता है।

मैंने रेल का उदाहरण दिया। ऐसी कई चीजें मिलों की मदद के लिए उपस्थित हैं। इसलिए मिलें सस्ती प्रतीत होती हैं। अगर सिर्फ मिल का ही विचार किया जाय, तो वह बहुत महँगी होती है। यही नियम खादी के लिए भी लागू करना चाहिए। अगर अकेली खादी का ही विचार किया जाय, तो वह महँगी मालूम होगी। लेकिन ऐसा असंबद्ध विचार नहीं किया जा सकता। किसी सुंदर आदमी के अवयव अलग-अलग काटकर अगर हम देखने लगें, तो क्या होगा ? कटी हुई नाक खूबसूरत थोड़े ही लगेगी ? उसमें तो आर-पार छेद दिखाई देंगे। लेकिन ऐसे पृथक् किये हुए अवयव अपने में सुंदर न होते हुए भी सब मिलकर शरीर को सुन्दर बनाते हैं। जब हम समग्र-जीवन को दृष्टि में रखकर खादी को उसका एक अंग मानेंगे, तब खादी-जीवन मिल-जीवन की अपेक्षा कहीं सस्ता दीखेगा।

खादी में लाने-ले जाने का सवाल ही नहीं है। वह तो जहाँ के तहाँ होती है। घर के घर ही में व्यवस्थित रूप से रहती है। याने व्यवस्थापकों का काम नहीं रह जाता। कपड़े की जरूरत से ज्यादा कपास

फिजूल बोयी ही नहीं जायगा। इसलिए कपास का बाजार भाव हमारे हाथों में रहेगा। चुनी हुई डोडियाँ घर पर ही ओटी जायँगी, जिससे बोने के लिए बढ़िया बिनौले मिलेंगे और खेती विशेष सम्पन्न और प्रफुल्लित होगी। बचे हुए बिनौले बेचने नहीं पड़ेंगे। वे सीधे गाय को मलेंगे और फलस्वरूप अच्छा दूध, घी और तेल मिलेंगे। वस्त्र स्वावलम्बन के लिए आवश्यक डोडियाँ सलाई पटरी या उसीकी विशेषताएँ रखनेवाली ओटनी पर ओट ली जायँगी। वह ताजी साफ रूई आसानी से धुनी जा सकेगी। वह दशयंत्र से भलीभाँति धुनी जायगी और सूत समान तथा मजबूत कत सकेगा। सूत अच्छा होने के कारण बुनने में सुगमता होगी। अच्छी बुनावट के कारण वह शरीर पर ज्यादा दिन टिकगा और कपड़ा ज्यादा दिन चलने के कारण उतने अंश में कपास का खेतावाली जमीन का बचत होगी। अब इन सबमें तेल की घानी आदि ग्रामोद्योग और जोड़ दीजिये और देखिये कि वह सस्ती पड़ती है या महँगी। आप पायेंगे कि वह बिल्कुल महँगी नहीं पड़ती। जब खादी का यह 'समग्र दर्शन' आपकी आँखों में समा जायगा, तो खादी कार्य का आरंभ कपास का बजाय रूई से करने में कितनी भारी भूल होती है, यह भी समझ में आ जायगा। इसके अतिरिक्त सारा खादी-कार्य सांगोपांग करने की दृष्टि भी प्राप्त होगी।

एक बात और, जिससे समग्र दर्शन और स्पष्ट होगा। यह एक स्वतंत्र विषय भी है। पाँच-छह साल पहले मैं रेल में अपना चरखा खोलकर कातने लगा। वैसे भी मेरी आँखें कमजोर हैं, उसमें फिर गाड़ी के धक्के लगते थे, इसलिए धारे धीरे सँभलकर कातने पर भी थोड़ा-बहुत टूटता ही था। टूटते ही मैं अपने सिद्धांत के अनुसार उसे फिर जोड़ लेता था। मेरी बगल में एक गृहस्थ बैठे थे। वे बी० एस-सी० पास थे। वह ध्यान से ये सारी बातें निहार रहे थे। थोड़ी देर बाद बोले "कुछ पूछना चाहता हूँ।" "पूछिये"—मैंने

कहा। वे बोले : "आप टूटे हुए तारों को जोड़ने में इतना वक्त खोते हैं, इससे उनको वैसे ही फेंक देना क्या अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक लाभकारी नही होगा ?" मैंने उनसे कहा : "अर्थशास्त्र दो तरह का है। एक आंशिक अथवा एकांगी और दूसरा परिपूर्ण। इनमें से एकांगी अर्थशास्त्र को छोड़कर परिपूर्ण अर्थशास्त्र की कसौटी पर परखना ही उचित है।" वे बोले : "दुरुस्त है।" तब मैंने उनसे पूछा : "आप कहते हैं कि थोड़ा-सा टूटा हुआ सूत अगर अकारथ जाय, तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन उसकी क्या मर्यादा हो ? कितना फी सदी आप माफ फरमायेंगे ?" उन्होंने कहा : "पाँच प्रतिशत तक माफ कर देने में हर्ज नहीं है।" तब मैंने कहा : "पाँच प्रतिशत सूत, जो कि जुड़ सकता है, फेंक देने का क्या नतीजा होता है, यह देखने लायक है। इसका यह मतलब है कि कातनेवाला इस तरह सौ एकड़ कपास खेती में से बैठे बैठे पाँच एकड़ की उपज यों ही फेंक देता है। ताँत के सौ कारखानों में से पाँच कारखानों को बेकार कर देता है। कातनेवालों के लिए बनायी गयी सौ इमारतों में से पाँच गिरा देता है। हिसाब की सौ बहियों में से पाँच फाड़ देता है" इत्यादि।

इसके अलावा, जिसने पाँच प्रतिशत का न्याय स्वीकार कर लिया, उसके सभी व्यवहारों को वह ग्रासकर रहेगा। उससे होनेवाली हानि कितनी भयानक होगी, यह समझना मुश्किल नहीं है। भोजन के वक्त अगर कोई थाली में बहुत सी जूठन छोड़कर उठ जाता है, तो हम उसे मस्ताया हुआ कहते हैं। क्योंकि जूठन छोड़ने का यह मतलब है कि वह, किसान के बैल से लेकर रसोई बनानेवाली माँ तक, सबकी मेहनत पर पानी फेर देता है। इसलिए जूठन छोड़ने से माँ का नाराज होना काफी नहीं है। हल चलानेवाले बैल को चाहिए कि वह उसे एक लात मारे और किसान से लेकर दूसरे सब एक-एक धौल जमायें।

इसीलिए हर चीज सामग्र्य की दृष्टि से देखनी चाहिए। इसीलिए भगवद्गीता में ईश्वर के ज्ञान के पीछे 'असंशयं समग्रम्' ये विशेषण लगाये गये हैं। हमारे खादी के आन्दोलन में समग्र-दर्शन की बहुत जरूरत है। हम जब खादी को समग्र-दर्शनपूर्वक आगे बढ़ायेंगे, तभी, और केवल तभी, वह व्यापक हो सकेगी। यह हमारी कसौटी का समय है। इसी तरह वह खादी की व्यापक शक्यता का भी अवसर है। इसलिए अपने सुझाव मैंने संक्षेप में बताये। मण्डल को इस पर उचित विचार करना चाहिए।*

ग्राम-सेवा वृत्त ५-११

* ग्राम-सेवा-मंडल की सर्वसाधारण सभा में १ जनवरी '४२ को दिया गया भाषण।

यंत्र-युग और खादी

* मेरे मित्रो,

नागपुर के लिए मैं सर्वथा अपरिचित नहीं। आपमे से कितने ही चेहरे मेरे परिचित हैं। फिर भी इधर कई वर्षों में यहाँ नहीं आ सका। इस बार आया, सो भी सयोगवश ही; क्योंकि मुझे यहाँ आने की कल्पना ही नहीं थी। गाधी सप्ताह के निमित्त भी मैं कहीं बाहर नहीं जाता। फिर आज यहाँ आने का क्या कारण हुआ, मुझे स्वय पता नहीं। जिस प्रान्त में हम रहते हैं, उसके मुख्य शहर की स्थिति क्या है, यह देखने का अवसर मिले, ऐसा कुछ अस्पष्ट-सा विचार था। आया तब भी बोलने की बात मैंने मजूर नहीं का थी। आप चरखा चलायेंगे, तो आपक साथ मैं भी चरखा लेकर बैठ जाऊँगा, इसी अभिप्राय से यहाँ आया। फिर भा जिसको भगवान् ने मुँह दिया है, उसे बोलना ही पड़ता है। हाँ, मौन का ही व्रत ले लिया हो, तो बात अलग है।

यहाँ देखता हूँ कि बहुत से लोग सूत नहीं कात रहे हैं। किन्तु इससे मैं निराश नहीं होता हूँ। कई लोग यह देख निराश हो जाते हैं कि खादी का प्रचार नहीं हो रहा है। बहुतों में खादी के प्रति उत्साह नही पाया जाता। किन्तु यह देख मेरा उत्साह बढ़ता है, विश्वास दृढ़ होता है। सूत कातने या खादी का प्रचार करने का काम यदि आसान होता, तो मुझे उसमें जरा भी उत्साह न होता। चाय को ही लीजिये। देखते-देखते उसका प्रचार बढ़ गया। खादी की बात वैसी नहीं है। यदि वह भी इस प्रकार बढ़ जाती, तो वह भी बीड़ी, चाय, अफीम आदि चीजों की श्रेणी मे आ जाती। किन्तु खादी केवल बाहरी वस्तु नहीं। वह एक विचार है। और विचार एक ऐसी वस्तु है कि

---

* ता० ६-१०-'४० को गाधी सप्ताह के निमित्त दिया गया भाषण।

समझ में आये बिना उसे कोई ग्रहण नहीं करता। यदि कोई किसी विचार को बगैर समझे-बूझे ग्रहण कर ले, तो कहना होगा कि उसमें मनुष्यपन अर्थात् विचारशीलता कम है। लोग कहते हैं कि महाराष्ट्र में चिकित्सकपन (बाल की खाल निकालने की आदत) ज्यादा है। परन्तु यह सही नहीं है। चिकित्सकपना अच्छा है। मेरी तो यह शिकायत है कि महाराष्ट्र में वह पर्याप्त नहीं है। अंधश्रद्धा के समान अंध-अश्रद्धा भी होती है। अन्धेपन की बीमारी केवल श्रद्धा में ही नहीं होती। अश्रद्धा में भी वह होती है। और अश्रद्धा का अर्थ चिकित्सकपन नहीं है।

इस नागपुर शहर में हजारों दूकानें हैं। उनमें खादी या ग्रामोद्योग की दूकानें एक या दो ही होंगी। ऐसा क्यों? कहते हैं कि यह यन्त्रों का युग है। यहाँ खादी-ग्रामोद्योग कहाँ टिक पायेंगे? पर कहाँ से आया यह यंत्र-युग? जिस प्रकार वे कलियुग माननेवाले बावले और पुरुषार्थ-शून्य होते हैं, वैसे ये कल-युगवाले भी हैं। इन यन्त्रों को मनुष्य पर किसने लाया? मैं आश्रम में रहता हूँ। पास से रोज जाने कितनी रेल-गाड़ियाँ आती-जाती रहती हैं। उनकी आवाज सुनता हूँ। हजारों मन का बोझ वे हजारों मील लाती-ले जाती हैं। किन्तु मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध वह हिला तक नहीं पातीं। चेतन को अचेतन वस्तु कैसे हिला सकती है? मेरे आसपास, नीचे-ऊपर, आगे-पीछे—सारे अव्यय लगा दीजिये, सर्वत्र यंत्र-युग ही है। किन्तु जब तक मैं उसका स्वीकार नहीं करता, यह यंत्र-युग मेरा क्या कर सकता है? मुझ पर वह कैसे हावी हो सकता है? दीपक से यदि कोई कहे कि अजी, अँधेरे का युग फैल गया है, चारों तरफ घना अँधेरा छा रहा है, तो वह क्या कहेगा? वह कहेगा-क्या बोलते हो? कुछ समझ में नहीं आता। जरा अपना वह अँधेरा तो दिखाओ कि कैसा है? जरा मुझे दिखाइये तो कि अँधेरा है कहाँ? चिमटीभर अँधेरा ले आओ मेरे पास, उसकी सूरत तो देखूँ!

परन्तु वह अँधेरा तो दीपक के सामने अपना मुँह काला कर लेता है। नहीं, बल्कि उसका काला मुँह भी सफेद (उजला) हो जाता है। दीपक के सामने वह आता ही नहीं। यही बात यन्त्र-युग की भी है। युग को तो हम बनायेंगे, वैसा होगा। क्या युग कहीं आसमान से टपकता है?

भारत और चीन, दोनों देशों की आबादी बहुत अधिक है। चालीस और पैंतालीस करोड़ आदमी पुराने ढग से खेती करते हैं। अन्य सब बड़े-बड़े राष्ट्र यन्त्र युगीन हैं। उनके बीच अब यह होड़ लगी है कि सबसे अधिक गन्ना कौन पेरता है। जब तक कोल्हूवाले थोड़े थे और गन्ना अधिक, तब तक तो यह ठीक चला। अब कोल्हू तो हो गये बहुत और गन्ना पड़ गया कम। आज यूरोप मे और अन्यत्र इसी कारण तो युद्ध, भयकर युद्ध, छिड़ा हुआ है। पुराणों में मजेदार कथा है। सुन्द और उपसुन्द नाम के दो अति बलवान् राक्षस थे। दोनों सगे भाई थे। देवो को उनका डर हुआ। तब उन्होंने तिलोत्तमा नामक एक स्त्री बनायी। उसे देखकर दोनों बावले हो गये। प्रत्येक राक्षस कहता कि यह मेरी है। पर औरत ठहरी एक और वे थे दो! दोनों भाइयों मे युद्ध छिड़ गया। दोनों ने अपनी गदाएँ उठायीं और जूझ पड़े। औरत देखती ही रही। दोनों ने एक-दूसरे पर एक साथ गदाएँ मारीं। इसकी गदा उसके सिर पर और उसकी गदा इसके सिर पर आ गिरी। सुन्द की गदा उपसुन्द के सिर और उपसुन्द की सुन्द के सिर! यह युद्ध देखने के लिए गणपति उपस्थित थे। कवि आगे कहता है: 'तन्मरणमुदुद्धासें गणपतिच्या कळ नुठेल कां तुंदीं।' इसी प्रकार जो गणनायक हैं, उन्हें आज यह युद्ध देख हँसी आ रही है।

हाल ही म तीन राष्ट्रों के बीच एक सन्धि हुई है। यह किस-लिए हुई? जो यन्त्रयुग में अर्थात् इनके कोल्हुओं में अभी नहीं पहुँचे हैं, उनको कोल्हू में पेरने के लिए। एक चोर ने सोचा कि अब मैं सबसे

अच्छा धंधा (चोर का) करूँगा। इस धंधे में पूँजी तो लगती है–दस बारह आने और मिल्कियत होती है लाखों की। और वह भी कुछ ही दिनों में! कोई इक्का दुक्का आदमी ही यह धंधा करता है, दूसरे सब तो नहीं करते, इसलिए यह धंधा चल निकलेगा। परन्तु सब उसे करने का निश्चय करें तो? तब नहीं चलेगा। भिक्षा का धन्धा भी ऐसा ही है। सिद्धान्त यह है कि जो चीज व्यापक बनने पर अपना गला खुद काट लेती है, वह अभद्र होती है। चोरी और भिक्षा यदि व्यापक बन जायें, तो खुद ही मर जाती है। यन्त्रों का धन्धा भी ऐसा ही है। व्यापक बनने पर वह भी मर जाता है। ऐडम स्मिथ ने अर्थशास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा है। उसके व्याख्यानुसार अर्थशास्त्र का मतलब है, धन कमाने का शास्त्र। उसने सारे संसार का विचार नहीं किया। केवल अपने राष्ट्र की बात सोची और बस, लिख मारा कि यन्त्रों से संपत्ति बढ़ती है। परन्तु क्यों और किनकी? जो यंत्र काम में लाते हैं, उनकी और तभी, जब दूसरे लोग यंत्रों का उपयोग नहीं करते। परन्तु क्या यह बात सही है कि यन्त्रों से सचमुच संपत्ति बढ़ती है? भारत में जमीन प्रतिव्यक्ति एक एकड़ पड़ती है। कपास, सन, गेहूँ, चने, अरहर जो कुछ पैदा करना हो, इस एक एकड़ में कर लीजिये। और मरने के बाद दफनाना भी उसी में। अब क्या यन्त्रों में ऐसी कोई शक्ति है, जो एक का डेढ़ एकड़ कर दे? परन्तु कहा जाता है फसल जल्दी आ जायगी। पहले कहते थे, यन्त्रों से आदमी धनवान् होता है। अब कहते हैं, काम जल्दी होता है। मनुष्य को फुर्सत मिलती है। यन्त्रों से मनुष्य धनवान् नहीं बनता। वह तो हाथ की सफाई का खेल है। इसमें पैसा केवल इसकी जेब से दूसरे की जेब में चला जाता है।

अच्छा, अब दूसरी बात लीजिये। कहा जाता है कि यन्त्रों से काम जल्दी हो जाता और मनुष्य को दिल बहलाने या मनोरंजन के लिए फुर्सत मिलती है। हम देखें कि क्या इसमें भी कुछ तथ्य है?

कहते हैं, यन्त्र पर तीन-चार घण्टे ही काम करना पड़ता है, फिर तो मौज ही है। चार घण्टे रेडियो सुनते रहिये। मैं कहता हूँ, आपका वह रोना रेडियो रोया! कहते हैं, केवल चार घण्टे कठोर श्रम करना होगा! अजी, मैं तो चौबीसों घण्टे आनन्द भोगनेवाला आनन्दी जीव हूँ और आप मुझे चार घण्टे यन्त्र पर चढ़ाना चाहते हैं! 'बहुत उदार हुए, तो फरा पर घी परोस दिया!' एक यन्त्र तो लोहे का है और उसके पास आप दूसरा मनुष्य का यन्त्र खड़ा करना चाहते हैं! धागा टूट जाय, तो वह उसे जोड़ दे। कहीं 'खट्' हुआ तो यह चट दौड़ ही पड़ा! क्षणभर भी ध्यान को फुर्सत नहीं! बोलने को भी समय नहीं। तीव्र काम कीजिये और तीव्र आनन्द लूटिये। यह है आपके यन्त्र-युग का लग्न! एक आदमी ने मुझसे कहा : "सिनेमा देखने में बड़ा मजा आता है और टॉकी देख-सुनकर तो इतना आनन्द होता है कि कुछ पूछिये नहीं।" मैंने कहा : "तब तो आप रोज देखते होंगे।" वह बोला : "दो-तीन दिन बाद देखा करता हूँ।" मैंने पूछा : "साल में तीन सौ पैंसठ दिन क्यों नहीं देखते?" रामा! दो!! तीन!!! गिनते जाओ न? खैर, यह तो बताओ कि "जिस दिन सिनेमा देखते हो, उस दिन नींद कैसी आती है? गाढ़ी नींद आती है या नहीं?" बोले : "नहीं, सपनों में सिनेमा के चित्र देखते रहते हैं।" कितने दुःख की बात है! गहरी नींद नहीं! क्या दुनिया में गाढ़ निद्रा से बढ़कर भी आनन्द की कोई चीज है? बात यह है कि नींद के पहले का कार्यक्रम अत्यन्त सौम्य होना चाहिए, तभी नींद अच्छी आती है। सूई का आकार कैसा होता है? नोक की तरफ पतला होता जाता है। ठीक इसी तरह सोने से पहले कार्यक्रम की तीव्रता उत्तरोत्तर क्षीण, सूक्ष्म और सौम्य होती जानी चाहिए। फिर वह बोला : "पर आप ही बतायें कि मुझे सिनेमा इतना अच्छा क्यों लगता है?" मैंने कहा : यह खूब रही। सिनेमा देखो तुम और तुम्हारे आनद की मीमांसा करूँ मैं! (घानी बिगड़े और मनुष्य उसे सुधारे! तुम्हें सिनेमा देखने में मजा इसलिए आता है

कि दिन में तुम्हारा कार्यक्रम तीव्र दु खमय होता है। तीव्र दु ख के कार्यक्रम से तीव्र आनन्द के कार्यक्रम की चाह होती है। हम तो चौबीस घण्टे आनन्द भोगेंगे और आराम से चौबीसों घण्टे काम भी करेंगे। किसी बात की जल्दी नहीं, मेरा अपना कार्यक्रम ऐसा ही होगा। अपने देहाती हल से मैं शान्ति से खेत जोतूँगा। फिर बैलों को पानी पिलाऊँगा, खुद रोटी खाऊँगा। फिर जरा लेटूँगा। बाद चरखा चलाने बैठूँगा। इस यन्त्र-युग म इसी तरह आराम से काम करूँगा। हर काम मेरे लिए आनन्द ही होगा। वह हल चलाना, वह बैलों का पानी पिलाना, वह चरखा चलाना! मतलब, सुबह से शाम तक मैं केवल आनन्द ही भोगूँगा। आत्मा का लक्षण आनन्द है। मैं अनात्मा बनना नहीं चाहता। चौबीसों घण्टे फुर्सत, चौबीसों घण्टे आनद और चौबीसों घण्टे काम क्यों न चलता रहे काम जल्दी खतम कर डालना और फिर दिनभर नाक से अन्दर हवा लेते और बाहर छोड़ते रहना, यह सारा झझट क्यों किया जाय? चौबीस घण्टों की हवा एक साथ हा अन्दर ले ली जाय, ऐसा क्यों नहीं कहते? प्राणायामवाले तो कहते हैं कि श्वासोच्छ्वास और भी धीरे धीरे लिया जाय। भाइयो, यह यन्त्र-युग है। एकदम सारी हवा अन्दर ले लीजिये! पर वह सधता नहीं। फिर जैसे हम चौबीस घण्टे हवा लेते और छोड़ते रहते हैं, वैसे ही चौबीसों घण्टे काम कर चौबीस घण्टे आराम क्यों नहीं करते? कगलों की तरह थोड़ी देर के लिए ही फ़ुरसत क्यों माँगते हैं? फ़ुरसत तो मन का धर्म है।

काग्रेस के मन्त्रिमण्डल नहीं रहे। इसलिए अब मन्त्रियों को फ़ुरसत मिल गयी है। एक भूतपूर्व मुख्यमन्त्री मेरे पास आये थे। वे बोले "हम बिजली मुहैया कर सकते हैं। गाँवों को सस्ती बिजली देंगे। गाँव-गाँव रेडियो लगवा देंगे। किसान सुखी हो जायँगे। उन्हें आनन्द मिलेगा।" मैंने उनकी बात सुन ली। फिर कहा "पहले दीजिये तो सही। बाद में देखा जायगा।" किन्तु मेरी वास्तविक

कठिनाई तो यह है कि क्या किसान इतना अरसिक होगा कि रेडियो सुनता रहे। वह इतना बेकार नहीं कि रेडियो सुनता रहे। खेत से लौटने पर उसे अपनी औरत और बच्चों से बोलना होता है, बात-चीत करनी होती है, अपने मवेशियों के शरीर पर प्रेम से हाथ फेरना होता है। यह सारा उसका आनंद का कार्यक्रम होता है। उसकी दृष्टि में उसका घर-बार, उसके बाल-बच्चे और उसके जानवर ये सारी चीजें विश्व का केन्द्र होती हैं। वह उपनिषद् का ऋषि कहता है न कि "मैं समस्त संसार का केन्द्र-बिन्दु हूँ।" यही बात उस किसान की भी है। इग्लैंड के लोग भी तो कहते हैं कि सारे ससार का केन्द्र इंग्लैंड है। यहाँ से सर्वत्र व्यापार चलता है। मैं भी कहता हूँ कि सारे संसार का केन्द्र-बिन्दु पवनार है। वह किसान समझता है कि सारे ससार का केन्द्र-बिन्दु उसका वह खेत, उसके बैल और उसके स्त्री-पुत्र हैं। यदि आप फ्रान्स की ससार-प्रसिद्ध चित्रशाला में जायँ तो आपको इसका प्रमाण मिल जायगा। वहाँ पर आप क्या देखेंगे? एक लकड़हारा, एक पनिहारिन, अपना हल रोककर सूर्य को नमस्कार करनेवाला किसान—इनके चित्र आपको वहाँ टँगे दिखेंगे। बड़े-बड़े चित्रकार इनको ससार के सर्वोत्तम चित्र बताते और उनकी प्रशंसा करते हैं। जिसकी बैठक में ऐसे चित्र नहीं, उसे अरसिक कहते हैं। फिर बताइये कि जिनके प्रत्यक्ष जीवन में ये सारी बातें हों, वे कितने रसिक, कितने आनन्दी होंगे?

किन्तु दयालु लोग क्या कहते हैं? बेचारा किसान धूप में कितनी कड़ी मेहनत करता है? कितनी तकलीफ उठाता है? पर उसे पेटभर रोटी भी नसीब नहीं। इसमें किसानों के दो दुःखों का वर्णन किया गया है: (१) कड़ी धूप में उसे मेहनत करनी पड़ती है। और (२) उसे पूरा खाने को भी नहीं मिलता। इनमे दूसरे को तो दुःख मान सकते हैं, पर पहला तो सुख ही है। यदि धूप न मिले, तो पेड़ कुम्हला जाते हैं। धूप से

स्वास्थ्य-लाभ होता है। किसान खेतों में काम करते हैं, उतनी ही उन्हें स्वतत्रता मिलती है। शुद्ध ताजी हवा मिलती है। यों उनके घर कैसे होते हैं? एक ही दरवाजा और खिड़की एक भी नहीं! दरवाजा बन्द कर दिया, तो घर सन्दूक-सा बन जाता है और उस सन्दूक में बन्द हो उसे रात बितानी पड़ती है। पर दिन में तो वह खुले खेत में काम करता है, उतनी उसे अपार श्रामन्ती मिलती है। देखिये बम्बई का धनिक! एक हजार रुपये मासिक किराया देनेवाला! उसके घर में छह खिड़कियाँ होती हैं। वह अगर और दो खिड़कियाँ एव खुली छत चाहे तो उसे थैली का मुँह और अधिक खोलना पड़ता है। छह खिड़कियोंवाले मकान में रहनेवाला यदि श्रीमान् हो, तो वह किसान कितना अधिक श्रीमान् होगा, जिसके खेत की अर्थात् उस धूपवाले मकान की दीवालें ही नहीं हैं—अनत खिड़कियाँ हैं। उसको अपने इस वैभव से उसे दूर न करें। गरम और खुली हवा में, उस धूप और प्रकाश में जो वैभव है, उसे छीनकर कारखानों के गन्दे और बन्द कमरों में उसे कैद न करें। उसके जीवन में दूसरे सुधार कीजिये। उसे घर का ताजा मक्खन खाने के लिए कहिये और कहिये कि जो बचे, वही श्रीमानों को बेचे। वे कोई उसके दुश्मन थोड़े ही हैं। उन्हें यथावशेष देता रहे। उसे सब्जियाँ और फल खाना सिखाइये। कहते हैं, सब्जियाँ और फल गाँवों में नहीं मिलते। तो क्या वे नागपुर के आलीशान मकानों की छतों पर पैदा होते हैं? किसानों का जीवन कितना आनदमय होता है! ये लोग उसकी नकल करते हैं। अपने यहाँ गमलों में पौधे लगाते हैं। कई लोग तो कागजों के नकली फूलों से ही घर सजाते हैं। आप जिस जीवन की इस प्रकार नकल करते हैं, स्वय वह सचमुच कितना आनदमय होगा!

यन्त्रों से फुरसत भी कहाँ मिलती है। एक गाँव की जन-सख्या तीन सौ है और यहाँ सीने की मशीनें हैं छह। जहाँ दो मशीनों के लिए भी पूरा काम नहीं मिलता, वहाँ छह मशीनें क्या करेंगी? क्या

इसीका नाम फ़ुरसत है ! यन्त्रों से संपत्ति बढ़ती है, यह बात तो गलत सिद्ध हो ही चुकी है । यन्त्रों से क्या सन्तरे, मोसम्बी या दूध निकलता है ! सभी लोग यदि यन्त्रों का स्वीकार कर लें, तो दो गुण्डों की होड़-सरीखा होगा। जो जोर-जोर से बोलता है, वह विजयी होता है। ऐसा क्यों ? इसलिए कि दूसरे सब शान्त बैठे रहते हैं। यन्त्र इसी प्रकार शोर-गुल करनेवाला साधन है। यदि सभी शोर मचाने लग जायँ, तो फिर किसीकी भी आवाज सुनाई नहीं देगी। फिर भी 'यन्त्रों से मनुष्य श्रीमान् होता है', इसमें कुछ सचाई है; क्योंकि जब तक दूसरे लोग यन्त्रों से उत्पादन करने नहीं लग जाते, तब तक तो यन्त्रों से उत्पादन करनेवाले को पैसा मिलता ही है। किन्तु यह कहना तो सफेद झूठ है कि यन्त्रों से मनुष्य को फ़ुरसत मिलती है। हाँ, फ़ुरसत का मतलब बेकारी हो, तो बात अलग है।

आजकल के युद्ध बम के होते हैं। कोई एक टन का बम बनाता है, तो दूसरा सवा टन का। पता नहीं, ये लोग इतने बड़े-बड़े अंकों के सवाल क्यों करते हैं। भला बल से भी कभी किसी वाद का निर्णय हो सकता है ! वह तो विशुद्ध न्याय-बुद्धि पर निर्भर है। यदि बल से ही किसी प्रश्न का निर्णय करना हो, तो उसके लिए इतने बड़े-बड़े आँकड़े क्यों ! उन्हें संक्षिप्त रूप दीजिये। $\frac{३५}{२८}$ कहने के बजाय $\frac{५}{४}$ कहिये। इधर के चालीस लाख और उधर के तीस लाख मनुष्यों के प्राण लेने के बजाय दो आदमियों की कुश्ती करवाकर क्यों नहीं निर्णय कर लिया जाता ! क्या भीम और जरासंध की कुश्ती नहीं हुई थी ! उसमें प्रजाजनों का कुछ भी नुकसान नहीं हुआ। राजा-राजा लड़ लिये। किन्तु आज ऐसा नहीं होता। ये शस्त्र एक-दूसरे को मारेंगे। यह यन्त्र-युग तो मरने ही वाला है, पर आपने ही उसे जिलाने का निश्चय किया है। आप तो धन्वन्तरि हैं, चेतन हैं। आप उसे शुरू कर सकते हैं। मैं बूढ़ों की ओर ध्यान नहीं देता। वे तो बूढ़े ही हैं। किंतु

तरुण लोग यन्त्र-युग की बातें करते हैं। मैं उनसे पूछता हूँ कि आप कौन हैं? एक था बाप और एक था लड़का। बाप साइकिल पर बैठकर घूमता था। लड़का बोला "मुझे साइकल चाहिए।" बाप ने कहा "क्यों? तेरे पाँव किसलिए हैं?" लड़के ने कहा "साइकल चलाने के लिए।" लड़का यन्त्र युग का ही तो था।

एक आदमी मेरे पास आया। उससे मैंने पूछा: "कैसे आये?" बोला "साइकिल-सवार होकर।" किन्तु असल में यह भ्रम ही है। वह साइकिल-सवार नहीं, साइकिल का घोड़ा था। गाड़ी को घोड़ा सामने से खींचता है और वह साइकिल को ऊपर से खींचता था, इतना ही अन्तर है। बाकी वह घोड़ा ही था, सवार नहीं। हाँ, मोटर-साइकिलवाले को एक बार हम 'सवार' कह सकते हैं, क्योंकि वह शक्ति-चालित है। रिक्शे को मनुष्य खींचता है और उसमें मनुष्य बैठते हैं। सचमुच यह बड़ी लज्जा की बात है। मनुष्य प्राणी गाड़ी खींचने लायक नहीं है। पर साइकिल में ठीक यही तो होता है। सवा-सवा सौ पौण्ड वजन के आदमी दूसरे की साइकिल पर बैठ जाते हैं और लोग बैठा भी लेते हैं। असल में जो साइकिल चलानेवाले के पीछे बैठता है, वह उसके कन्धे पर ही बैठता है। किन्तु झूठी भाषा के कारण किसीका ध्यान इस ओर जाता ही नहीं। कल यदि मैं पूनमचन्दजी के यहाँ जाऊँ और कहूँ कि पूनमचन्दजी, रिक्शे में जुत जाइये और मुझे वहाँ ले चलिये, तो कैसा दिखेगा? साइकिल पर दूसरे को बैठाकर ले जाना रिक्शा खींचने के समान ही है। हाँ, किसी बीमार को यदि साइकिल पर बैठा लें, तो बात दूसरी है। अन्यथा वह अनुचित ही है। इसलिए विचार कर किसी चीज के लेने या त्यागने का निश्चय करना चाहिए। कोई चीज नयी है, केवल इसीलिए वह ग्रहण करने योग्य नहीं बन जाती। इसी प्रकार उस हारमोनियम को लीजिये। 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि' की भाँति जहाँ जहाँ भी हारमोनियम है, वहाँ-वहाँ फूटी आवाज होती है। वह भों भों करने

वाली आवाज ! क्या उससे गधे की आवाज बुरी है ? बल्कि अच्छी ही है। गधे की आवाज में कारुण्य प्रकट होता है। हारमोनियम की आवाज में यह भी नहीं। केवल गानेवाले की फटी आवाज छिपाना ही उसका उपयोग है। सच पूछिये, तो तंतुवाद्य के समान वाद्य नहीं। उसमें ठीक-ठीक स्वर बताया जाता है। परन्तु उसमें जरूरत होती है अक्ल और सूक्ष्म स्वर-ज्ञान की। अपनी अक्ल को इतना कष्ट देना लोगों को पसन्द नहीं। इसीलिए तो हारमोनियम का प्रचार हो गया और सितार पिछड़ गयी। इसी प्रकार यंत्र-युग मनुष्य को बुद्धिशून्य बना रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है यूरोप का युद्ध। लोगों की तरफ से कुछ लोग भला-बुरा निश्चय करते और कहते हैं, हाथ ऊपर उठाइये। अंग्रेजी में कहते हैं, इस कारखाने में ५०० हाथ हैं। वहाँ सिर की जरूरत ही नहीं होती। यूरोप में लोगों के मस्तक खोखले हो गये हैं। वहाँ मतों की गिनती के नाम पर हाथों की गिनती होती है। यंत्र-युग से ऐसी बुद्धिहीनता फैलती है। हाथों की गिनतीवाली इस यान्त्रिक लोक-सत्ता के कारण ही यह हुक्मशाही—डिक्टेटरशिप आयी और उसने यह अनर्थ शुरू किया है।

आप बित्तेभर भी सूत न कातें, तो कोई चिन्ता नहीं। पर विचार कीजिये, विचार करना सीखें। यह सोचिये कि गांधी के कार्यक्रम में विचार, विकास और बुद्धि है या नहीं ? यदि उसमें आपको ये चीजें मिलें, तो आप उसे ग्रहण करें।

ग्राम-सेवा वृत्त ४-११

*हम सब बहुत दिनों से सूत कात रहे हैं। कताई के अच्छे जानकार बन गये हैं। अच्छी तरह तुनाई-धुनाई करके बारीक सूत कात लेते हैं। इसे हम राष्ट्र की सेवा मानते हैं। यह सही भी है। किन्तु यह सेवा पूर्णता के साथ करनी हो, तो हमें महीन सूत के कपडे न पहनकर मोटा कपड़ा पहनना चाहिए। राष्ट्र के लिए पर्याप्त महीन कपड़ा तैयार होने तक हम सेवकों का यह धर्म है। राष्ट्र में थोड़ी-बहुत मोटी खादी तैयार होती ही है। उसे हम पहनें और जिनका महीन कपडे के सिवा चल नहीं सकता, उनके लिए अपना महीन सूत समर्पण करें। यों मोटा कपड़ा पहनने में जितना लाभ है, उतना महीन कपडे मे नही। मोटा कपड़ा पहनना ही सच्ची श्रीमन्ती है। मोटे कपडे का शरीर के साथ होनेवाला घर्षण आरोग्यदायक होता है। तथापि महीन कपडे के लिए स्थान है ही। फिर राष्ट्र को कुछ परिमाण मे महीन कपड़े की जरूरत भी बनी रहेगी। इसलिए महीन सूत कातना ही चाहिए। वह भी ऐसा काता न जाय कि उसका कपड़ा सालभर चले। हमारे कते बारीक सूत का कपड़ा सालभर चलता है या नहीं, यह देखने के लिए जिन्हें हम देंगे, उन्हें उसका नोट रखने के लिए कहेंगे। इतने से हमारा काम चल जायगा। इसके लिए यह जरूरी नहीं कि वह कपड़ा हम ही बरतें।

अपने लिए हम मोटी खादी खरीदें। वह भी बगैर धुली (कोरी) हो। भडारों में जो धुली खादी मिलती है, मेरी दृष्टि में वह बिलकुल

* पवनार के परिश्रमालय के लोगों के साथ चर्चा में आये कुछ मुद्दों का टिप्पण।

निकम्मी है। इस खादी को 'धुली खादी' कहना भी गलत है। असल में यह 'ब्लीच' की हुई खादी होती है। महीन कपड़ों की थोड़ी-बहुत जरूरत होती है। परन्तु इस 'ब्लीच' की हुई खादी की उसे बिल्कुल जरूरत नहीं होती। फिर ब्लीच करने की क्रिया में कहीं भूल हो जाय, तो कपड़ा जल जाता और महीने-दो महीनों में ही फट जाता है। परन्तु मान लीजिये कि उस 'ब्लीचिंग' की क्रिया में कोई भूल नहीं हुई और वह व्यवस्थित रीति से की गयी। फिर भी इस क्रिया में कपड़े की उम्र दो महीने तो जरूर घट जाती है। हमारा देश गरीब है। जमीन भी हमारे पास मामूली है। उसमें कपास पैदा करें, उसे परिश्रमपूर्वक साफ करें, पींजें, कातें और बुनें और फिर उस कपड़े को इस तरह जला दें—इसे एक नैतिक अपराध ही समझना चाहिए। इस धोने की क्रिया में कपड़े की उम्र दस महीने अर्थात् ५/६ रह जाती है। अर्थात् उतना कपड़ा यानी १/५ अधिक लगेगा। मान लें कि मनुष्य को वर्ष में १५ गज कपड़ा चाहिए, तो ४० करोड़ मनुष्यों को ६०० करोड़ गज खादी लगेगी। उसके बदले अब वह ७२० करोड़ गज लगेगी। कीमत की दृष्टि से भी एक रुपये की तीन गज खादी मान लें, तो १२० करोड़ गज इस अधिक खादी की कीमत ४० करोड़ रुपये होंगे। केवल धुलाई में ही प्रतिवर्ष यह ४० करोड़ की हानि होगी। इस हिसाब पर ध्यान देने पर स्पष्ट हो जायगा कि मैं इसे नैतिक अपराध क्यों कहता हूँ। आज की हालत में यदि ये खादी-भण्डार 'धुली हुई' खादी की बिक्री बन्द नहीं कर सकते, तो उन्हें कोरी खादी अधिक-से-अधिक बेचने की कोशिश करनी चाहिए। परन्तु मुझे भय है कि आजकल जो 'बेचने की कला' रूढ़ हो गयी है, उसके मोह में धुली खादी की बिक्री को ही प्रोत्साहन दिया जाता है। फिर भी अभी इस बड़े प्रश्न को एक ओर रखकर मैं आपसे यही कहता हूँ कि आप तो इस मोह के शिकार न हों। इसमें आपका तिहरा नुकसान है। एक तो मैंने अभी कहा ही है। दूसरे, धुली हुई

खादी की बुनाई की हम अच्छी परीक्षा नहीं कर सकते। इस कारण सुन्दर के नाम पर भद्दा कपड़ा खरीद लेते हैं। और तीसरे, धुलाई के दाम लगते हैं, वह अलग!

हम लोगी खादी खरीदें और उसे खुद धोयें। उसे रोज धोते जायें, तो वह खूब साफ रहेगी। किन्तु धोयें कैसे और साफ के मानी क्या हैं, यह भी समझ लेना चाहिए। स्वच्छता एक चीज है और भड़कीला सफेद रंग अलग। पसीना, गन्दगी, धब्बे आदि कपड़े पर बिल्कुल न रहें, इसीका नाम स्वच्छता है और यही धुलाई का उद्देश्य है। इसके लिए सोडा, साबुन आदि लगाने या कूट-पीटकर कपड़े की बरबादी करने की जरूरत नहीं। स्वच्छता के नाम पर जो लोग ये सब प्रयोग करते हैं, वे दिग्भ्रान्त हैं। वास्तव में वे सादी खादी के नहीं, रंगीन खादी के पहननेवाले हैं। रंगीन यानी भड़कीले सफेद रंगवाली। हमारा शरीर मिट्टी का बना है, मिट्टी में ही हम काम करते हैं, तो मिट्टी और गन्दगी का फर्क हमें ध्यान में आना चाहिए। यदि मिट्टी का कुछ रंग धोती पर चढ़ जाय, तो उससे स्वच्छता में जरा भी कमी नहीं आती। बहुत हुआ तो उसे भी एक प्रकार की रंगीन खादी कह लीजिये। मैं तो उसीको सादा कपड़ा मानता हूँ। स्वच्छ पानी से रोज धो लिया करें कि हमारा काम पूरा हो जाता है। इतना करने पर यदि मिट्टी का रंग कपड़ों पर चढ़ता हो, तो उससे द्वेष करने की कोई आवश्यकता नहीं। भड़कीले सफेद रंग से शौक और मिट्टी के स्वाभाविक रंग से द्वेष हम श्रमिकों को शोभा नहीं देता। उसके लिए साबुन और सोडा व्यर्थ ही खर्च करना पड़ता है। उससे कपड़ा कमजोर होता है, सो अलग। इसके विपरीत स्वच्छता का ज्ञान न होने से और बार-बार धोने से कपड़ा जल्दी फट जाता है, इस भय से गाँववाले गन्दे पसीने से तर ही कपड़े पहनते रहते हैं। स्वच्छता का ज्ञान हो जाने पर वे ऐसा नहीं करेंगे। इसी प्रकार कपड़ा किस प्रकार रखने से अधिक दिनों तक चलता है, यह मालूम

हो जाने पर वे वैसा नहीं करेंगे। कपड़ों में पसीना लगा पड़ा रहा, तो यह कपड़े के टिकाऊपन में घातक ही सिद्ध होता है।

हम खादी को रोज स्वच्छ पानी में धोयें और पहनें। यह हमारे शरीर की अच्छी रक्षा भी करेगी और उसे सुशोभित करेगी। किन्तु रक्षा का अर्थ क्या है, यह ठीक से समझ लेना चाहिए। दिनभर शरीर पर कपड़े की जिल्द चढ़ाये रखना शरीर की रक्षा नहीं और न शोभा ही है। एक व्यक्ति सम्पूर्ण खादीधारी थे। उनका परिचय देते हुए उनके साथी ने कहा : "आप नख-शिखान्त खादीधारी हैं।" यह सुनकर ही मैं तो घबरा उठा। नख से लेकर चोटी तक खादी धारण करना कितना कठिन काम है! और आदमी चाहे जितना ही बड़ा देशभक्त हो, उसे यह क्यों करना चाहिए? कहावत है कि 'पेटभर अन्न और तनभर कपड़ा।' फिर भी अन्न से पूरा का पूरा पेट भर लेना और कपड़े से सारा शरीर ढँक लेना निसर्ग-द्रोह ही है। लज्जा रक्षण के लिए कुछ वस्त्र पहनना अपरिहार्य है। इसी प्रकार जाड़े आदि से रक्षा के लिए भी कुछ कपड़ा जरूरी ही होता है। किन्तु इसके अतिरिक्त बिना जरूरत दिनभर सारे शरीर पर कपड़े डाले रखना कपड़े फाड़ डालना तो है ही। परन्तु यह दोष बहुत छोटा हुआ। वास्तव में इससे सबसे बड़ी हानि यह है कि शरीर नाजुक, निस्तेज और कमजोर हो जाता है। सूर्य की किरणों और खुली हवा की महिमा अपार है। उनसे कभी नहीं डरना चाहिए। इसके विपरीत उनसे न डरने, बल्कि प्रेम करने के ही बहुत-से कारण हैं। वेदों में एक भक्त का वर्णन है। वह भगवान से कहता है : "भगवन्! तू मुझे बहुत अच्छा लगता है—इतना अच्छा कि जितना जरा-जर्जर बूढ़े को वस्त्र।" वस्त्रों का प्रेम बुढ़ापे का लक्षण तो है ही, शरीर को जीर्ण बनाने का भी एक साधन है। संस्कृत में सूर्य को 'मित्र' कहते हैं। इसका कारण पेड़-पौधे भी जानते हैं। सूर्यनारायण उत्तम मित्र तो है ही,

उत्तम वैद्य भी है। 'वैद्यो नारायणो हरिः' इस वाक्य में सूर्य-नारायण की ओर भी संकेत है। मैं प्रायः यथासंभव खुले शरीर से ही रहता हूँ। उससे मुझे शारीरिक और बौद्धिक लाभ का भी अनुभव होता है। इसलिए मुझे लगता है कि इस देश मे गरीबों तथा श्रीमन्तों को भी जितना सम्भव हो, खुले शरीर ही रहना चाहिए।

खादी की बचत की कुछ और भी गृहशास्त्रीय बातों पर विचार करें।

(अ) स्नान करने के बाद गीले कपड़ों को वैसे पड़े न रहने दें। उन्हें उसी समय धोकर सुखा दें। ऐसा न करने पर कपड़े तो सड़कर जल्दी फटते ही हैं, मनुष्य को भी आलस और अव्यवस्थितता की बुरी आदत लग जाती है।

(आ) जो लोग लम्बी धोती पहनते हैं, वे रात को उसे छोड़कर रख दिया करें। उसके बदले म चड्डी या अँगोछे जैसा कोई हलका छोटा वस्त्र पहन लें। इससे लम्बी धोती की उम्र बढ़ जायगी। पश्चिम के लोग ऐसा ही करते हैं। हमारे देश में भी पहले ऐसा करते थे। कपड़ा सोने की अवस्था में ही अधिक फटता है।

(इ) धोती जीर्ण हो जाय, इससे पहले ही बीच में से उसके दो टुकड़े कर लें और उल्टी तरफ से उसे सी लें। इससे धोती नयी हो जाती है। मराठी मे इस क्रिया को 'दाड भरणें' कहा जाता है।

(ई) कपड़ा यदि कुछ फट जाय, तो उसकी उपेक्षा या त्याग न करें। उसकी तुरन्त मरम्मत कर लें। जब तक मरम्मत करना असम्भव न हो जाय, तब तक कपड़े का त्याग विहित नहीं। देह को कपड़े की उपमा दी जाती है। शरीर का इलाज कर उससे काम लेते ही हैं। इसे हम लज्जा की बात नहीं मानते। इसी तरह कपड़ों के बारे में भी समझें। हाँ, फटा कपड़ा पहनना लज्जाजनक है।

अन्त में खादी-तत्त्व का स्मरण कर यह लेख पूरा करेंगे। 'खादी की गादी से लड़ाई है' इसे मैं खादी तत्त्व कहता हूँ। खादी की गादी

गो-सेवा का रहस्य   : २६ :

*आज मैं आपके सामने जो चार शब्द कहना चाहता हूँ, उसकी प्रस्तावना में कुछ कहने की आवश्यकता है। कल हम लोगों की कार्य-कारिणी की सभा जो हुई, उसमे मैंने कहा था कि आप लोग मुझे अध्यक्ष बना रहे हैं, लेकिन मैं एक जंगली प्राणी हूँ। इसीलिए मेरे व्यवहार में आप लोगों को यदि कुछ असभ्यता दिखायी पड़े, तो उसे सहन करना होगा। वैसे भी मेरा जन्म जंगल में हुआ और जिसे 'आधुनिक शिक्षण' कहते हैं, वह मिला-न मिला, इतने में मुझे उप-निषद् पढ़ने की इच्छा हुई। आप जानते ही हैं कि उपनिषद् एक जंगली साहित्य है। उसे संस्कृत में 'आरण्यक' कहते हैं। हमारी भाषा में 'आरण्यक' शब्द का सरल अर्थ 'जंगली साहित्य' ही होगा। उसमें ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए दो लक्षण बतलाये गये हैं : 'अवाकी अनादरः।' यानी ब्रह्म न बोलता है और न किसी चीज की परवाह करता है। मेरे स्वभाव में भी यह बात आ गयी है। ऐसी कई छोटी-मोटी बातें हो सकती हैं, जिनकी मैं परवाह करता हूँ या नहीं करता, उसका भी मुझे ध्यान नहीं रहेगा। कृपया आप इतना सह लेंगे।

दूसरी बात, जो पहली का ही हिस्सा है, मुझे यह कहनी है कि मेरी मातृ-भाषा मराठी है, और मराठी भाषा में यद्यपि अनेक प्रकार की अद्भुत सामर्थ्य है, तो भी एक चीज की कमी है, जिसे 'दरबारीपन' कहते हैं। उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी भाषा में वह परिपूर्ण है, मराठी में

* दिनांक १--२--'४२ को गो सेवा-संघ के सम्मेलन के अवसर पर दिया गया अध्यक्षीय भाषण।

बिल्कुल ही नहीं है। हम हजार कोशिश करें, तो भी 'आप आइयेगा, बैठियेगा' का मराठी में ठीक-ठीक अनुवाद कर नहीं सकते। इसलिए इस दृष्टि से जो कुछ कमियाँ मेरी हिन्दी में रह जायँ, उन्हें भी आपको माफ करना होगा।

इसके बाद प्रस्तावना में एक बात और मुझे कहनी होगी। मुझे सूचित किया गया था कि मैं अपना व्याख्यान लिखकर दूँ। शायद यह एक शिष्टाचार होगा। लेकिन वैसा मैं नहीं कर सका; क्योंकि अक्सर लोगों को देखे बिना मुझे कुछ सूझता ही नहीं, यह तो हमेशा की बात हुई। इसके सिवा इस समय मेरे भाषण के पहले यहाँ बापू का व्याख्यान होनेवाला था। मैंने सोचा, उनका व्याख्यान सुनूँगा और फिर उसके प्रकाश में बोलूँगा, यानी उन बातों को न दुहराऊँगा, जिनका उन्होंने विस्तार किया होगा और उन्होंने जो बातें नहीं कही होंगी, उन्हींको सहजतः कहूँगा। यह सोचकर मैंने अपना भाषण लिखकर नहीं भेजा और अब वह जबानी ही हो रहा है। अगर इस चीज के लिए क्षमा माँगने की जरूरत मानी जाती हो, तो वह भी मैं माँग लेता हूँ।

पहले तो मैं नाम से ही शुरू करता हूँ, क्योंकि नाम की महिमा सभी जानते हैं। हमारे संघ का नाम 'गो-सेवा संघ' है। उसे सुनते ही सहज प्रश्न उठता है कि "क्या आपने कभी 'गो-रक्षा' शब्द सुना है? उसे जानते हुए भी 'गो-सेवा' शब्द आपने रखा है, या यों ही बिना सोचे-समझे या यों ही गो-सेवा नाम रख दिया है?"—इसका उत्तर देना जरूरी है।

संस्कृत में हमें शायद ही 'गो-सेवा' शब्द मिलेगा। वहाँ 'गो-रक्षा' शब्द ही प्रचलित है। इसलिए हम सब लोग वह शब्द जानते हैं। लेकिन जानकर भी हेतुपूर्वक उसे छोड़ा है और 'गो-सेवा' शब्द अधिक नम्र समझकर चुन लिया है। यानी हम अपने में गो-रक्षा की सामर्थ्य नहीं पाते, इसलिए गो-सेवा से संतोष मान लिया है। अर्थात् दयाभाव

से हो सकेगी, उतनी हम गाय की सेवा करेंगे। भगवान् की कृपा से जब हममें योग्यता आ जायगी, तब फिर हम गो-रक्षा करेंगे।

लेकिन जब हम 'गो सेवा' का नाम लेते हैं, तब हमसे यह पूछा जायगा कि "आप लोग गाय की क्या सेवा करना चाहते हैं? अगर आप गाय का दूध और घी बढ़ाना चाहते हैं और अच्छे बैल पैदा करना चाहते हैं, तो उसमें कौन-सी 'गो-सेवा' है? उसमें तो आप लोग अपनी खुद की ही सेवा कराना चाहते हैं। अंग्रेज लोगों ने 'पब्लिक सर्विस' शब्द निकाला है, वैसी ही आपकी यह 'गो-सेवा हुई।' ऐसा आक्षेप हो सकता है। उसके जवाब में कुछ कहना ठीक होगा।

हम लोग अपनी मर्यादा समझते नहीं, इसीलिए ऐसा सवाल पैदा होता है। यह समझना आवश्यक है कि 'सेवा' और 'उपयोग' के बीच कोई आवश्यक विरोध ही रहता है, ऐसा नहीं। हम जिस प्राणी का उपयोग नहीं कर सकते, उसकी सेवा करने की शक्ति हममें नहीं, यह हमारी (मनुष्यों की) मर्यादा है। उसमें स्वार्थ का कोई मुद्दा नहीं है। एक-दूसरे की सेवा करने का यही एक रास्ता हमारे लिए ईश्वर ने खुला रखा है। नहीं तो आज बापू ने पिंजरापोलों की जो दशा बतायी, वही सारे समाज की होगी। आज भी हम यही देखते हैं। पक्षी को दाने डालते हैं और आदमी को भूखा रखते हैं। इस तरह दया या सेवा तो नहीं, बल्कि निर्दयता या असेवा ही होती है।

ईश्वर के अनंत गुण हैं, उनमें से हमें यथाशक्ति अनुकरण करना है। लेकिन यदि हम ईश्वर के ही अपने विशेष गुण का अनुकरण करेंगे, तो वह अहंकार होगा। ईश्वर के अन्य सब गुणों का थोड़ा-बहुत अनुकरण हमारे लिए संभव है, परन्तु उसके विशेष गुण का, यानी उसके ऐश्वर्य का, अनुकरण हमारे लिए सम्भव नहीं। वह सृष्टि का पालन और संहार करता है। इसका अनुकरण हमारे लिए वर्ज्य है। हम किसी प्राणी का पालन कर ही नहीं सकते। बहुत हुआ तो

चींटियों के लिए शक्कर डाल देंगे। चींटियाँ वहाँ इकट्ठी हो जायँगी; और अगर संयोग से वहाँ एकआध बैल आ जाय, तो उसके पैर के नीचे वे खतम हो जायँगी। ऐसा होगा, तो उसकी जिम्मेदारी मैं कैसे उठाऊँगा? 'ईश्वर की करतूत' कहकर मैं उससे अलग हो जाऊँगा।

यहाँ मुझे एक घटना याद आती है। एक थी बुढ़िया। उसके एक बेटा था। बेटा उसकी मानता ही नहीं था। इसलिए बेचारी बहुत दुःखी रहती। एक बार मैं उसके पास पहुँचा, तो कहने लगी: "देखो न, मैंने इसे इतना पाला-पोसा, लेकिन मेरी सुनता ही नहीं।'

मैंने उससे पूछा: "तेरे क्या यह अकेला ही लड़का है?"

उसने कहा: "हाँ, तीन-चार और थे, सब मर गये।"

तब मैंने अपने जंगली ढंग से सीधा सवाल पूछा: "माँजी, तुमने अपने तीन-चार बच्चों को क्यों मार डाला?"

आप कल्पना कर सकते हैं कि मेरे इस जंगली सवाल से उसके दिल पर कितनी चोट लगी होगी! थोड़ी देर के लिए वह सहम गयी और बाद में अपने को सँवारकर कहने लगी: "मैं क्या करूँ? भगवान् ने चाहा सो हुआ।" तब मैं उससे पूछता हूँ: "अगर तुम्हारे तीन लड़कों को भगवान् ने मार डाला, तो इस चौथे को किसने पाला पोसा? पाला पोसा तो केवल तुमने और मार डाला भगवान् ने, यह कैसे हो सकता है? या तो दोनों जिम्मेदारियाँ उठाओ या दोनों छोड़ दो।"

जिस प्राणी का हम उपयोग नहीं है, उसकी सेवा हमसे नहीं हो सकती। गो सेवा का रास्ता सीधा है। गाय का हमें ज्यादा से-ज्यादा उपयोग तो है ही। वह करने की कोशिश करेंगे और उसके साथ उसकी सेवा, अधिक-से अधिक जितनी हो सके, करेंगे, जैसे कि हम अपने बच्चों की सेवा करते हैं। यही 'गो-सेवा' का सरल सीधा अर्थ है।

गो सेवा का प्रथम पाठ हमें वैदिक ऋषि-मुनियों ने सिखाया। कुछ लोगों का कहना है कि गो सेवा का पाठ पढ़ाकर ऋषियों ने हममें

अनुचित पूजा के भाव पैदा किये हैं। ऐसी पशु-पूजा वैज्ञानिक नहीं है। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसा नहीं। जिस तरह हम उपयोग की दृष्टि से विचार करते हैं, उसी तरह सीधे उपयोग की दृष्टि से ऋषि-मुनियों ने भी विचार किया। उसी दृष्टि से उन्होंने बतलाया है कि हिन्दुस्तान के लिए गो-सेवा लाभप्रद है। इसलिए वही धर्म हो सकता है। तब हमारा यह कर्तव्य है कि हम गाय का हो सके, उतना उपयोग करें। वेद का वचन है : 'सहस्रधारा पयसा मही गौः।' ऐसी गाय, जो नित्य दूध की हजार धाराएँ देती हो। आप समझ सकते हैं कि दूध की एक धारा कितनी होती है। हिसाब करने पर मालूम होगा कि वैदिक गाय का दूध चालीस-पचास पौंड होता था। इससे आप समझ लेंगे कि उनकी इच्छा क्या थी और गायों से वे क्या अपेक्षा रखते थे। आजकल शिकायतें आती हैं कि गायें दूध ही नहीं देतीं। वैदिक ऋषियों ने गो सेवा की समुचित दिशा भी बतलायी है।

प्रायः सुना जाता है कि दूध तो गायों से जैसे-तैसे मिल सकता है, पर घी के लिए तो भैंस की ही शरण लेनी पड़ेगी। लेकिन हमारे प्राचीन वैदिक ऋषि यह नहीं मानते। वे कहते हैं : 'यूयं गावो मेदयथाः कृशं चित्।' अर्थात् "हे गायो, तुम कृश शरीरवालों को मेदयुक्त कर दो।" मेद यानी स्नेह अर्थात् जिसे वैज्ञानिक 'फैट' कहते हैं। इसका मतलब यह है कि दुबले-पतले को परिपुष्ट बनाने योग्य चरबी गाय के दूध में पर्याप्त होनी चाहिए। यदि आज गाय के दूध में घी की मात्रा कम मालूम होती है, तो उसे बढ़ाना हमारा काम है। वह कसर गाय के दूध में नहीं, बल्कि हमारे प्रयत्न में है।

इसीकी पुष्टि में उन्होंने गाय का वर्णन यों किया है : 'अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।' अर्थात् जो शरीर अ-श्रीर है, उसे गाय श्रीर बनाती है। 'श्रीर' का अर्थ शोभन, सुन्दर है और 'अश्रीर' का अर्थ शोभाहीन। 'अश्रीर' से ही 'अश्लील' शब्द बना है। इससे आप समझ लेंगे कि हमें गो-सेवा का पहला पाठ वैदिक ऋषियों ने पढ़ाया

है, उसके विकास की दिशा भी बतलायी है और वह दिशा अनुचित पूजाभाव की नहीं, बल्कि शुद्ध वैज्ञानिकता की है। यानी परम उपयोगिता की है।

सेवा का अर्थ उपयोगहीन सेवा नहीं है। उपयोग के साथ उपयोगी प्राणी की यथासंभव अधिक-से-अधिक सेवा करना ही उसका अर्थ है। उसका भाव यह है कि उपयोगी प्राणी को हमें अधिकाधिक उपयोगी बनाना चाहिए। इसी तरह हम उसकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकते हैं, जैसा कि हम अपने बाल-बच्चों की करते हैं। इस तरह हमारे लिए सेवा का उपयोग के साथ नित्य संबंध है। अब मैं जरा और आगे बढ़ूँगा। जैसे हम उपयोगहीन सेवा नहीं कर सकते, वैसे ही सेवा-हीन उपयोग भी हमें नहीं करना चाहिए। गो-सेवा संघ के नाम में 'सेवा' शब्द का यही अर्थ है। यानी हम सेवा किये बिना लाभ नहीं उठायेंगे। आज भी थोड़ा-बहुत ऐसा होता ही है। हम आज भी ढोरों की कुछ-न-कुछ सेवा तो करते ही हैं। लेकिन शास्त्रीय दृष्टि से जितनी करनी चाहिए, उतनी नहीं करते; क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि हमारे पास नहीं है, विशेषज्ञों से इस काम में हम सहायता जरूर लेंगे। लेकिन सभी काम उन पर नहीं छोड़ना चाहिए। हमें गाय की प्रत्यक्ष सेवा करनी चाहिए। इस प्रकार हम प्रत्यक्ष सेवा करेंगे, तब गो-सेवा का शास्त्र थोड़ा-बहुत हमारे हाथ लगेगा।

पवनार के हमारे आश्रम के एक भाई, नामदेव ने दो-चार गायें पाली हैं। बाजार के लिए उसे एक दिन सेलू जाना पड़ा। शाम को नामदेव वापस लौटा और गाय दुहने के लिए बैठा, तो गाय दूध देती ही न थी। उसने बहुत प्रयत्न किया। फिर सोचा : "आज गाय को क्या हो गया है ?" उत्तर मिला : "कुछ तो नहीं। पता नहीं, दूध क्यों नहीं देती ? बछड़ा भी तो बँधा हुआ ही था। इसलिए उसने भी दूध नहीं पिया।" अन्त में नामदेव ने पूछा : "किसीने उसे मारा-पीटा तो नहीं ?" एक भाई ने कहा : "हाँ, मारा तो था।" नामदेव ने कहा : "ठीक,

इसीलिए वह दूध नहीं देती।" फिर नामदेव गाय के पास पहुँचा, उसने उसके शरीर पर हाथ फेरा, उसे पुचकारा। यह स्नेह-दर्शन देख कुछ देर के बाद गाय दूध देने के लिए तैयार हुई। यह किस्सा इसलिए कहा कि हमें समझना चाहिए कि जब हम नामदेव की तरह गो-सेवा करेंगे, तो उसीमें से धीरे-धीरे गो-सेवा का रहस्य स्पष्ट हो जायगा और गो-सेवा का शास्त्र बनेगा।

कालिदास ने, जो कि हिंदू-संस्कृति का अप्रतिम प्रतिनिधि है, हमारे सामने उस सेवा का कितना सुन्दर आदर्श प्रस्तुत किया है! महाराज दिलीप ऋषि के आश्रम में रहने को आता है। ऋषि उसे गाय की सेवा का काम देते हैं, क्योंकि वहाँ बिना कुछ सेवा किये रह ही कैसे सकते हैं? आश्रम का अर्थ ही है सेवा की ही भूमि। वह राजा गो-सेवा का काम कितनी लगन से करता है? उसकी कैसी चाकरी करता है? उसके पीछे-पीछे कैसे रहता है?—इसका चित्र कालिदास ने रघुवंश में एक श्लोक में यों खींचा है :

> 'स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
> जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥'

शरीर की छाया की नाईं राजा गाय का अनुचर बन गया! जब वह गाय खड़ी होती, तब वह भी खड़ा हो जाता। जब वह चलती तो वह भी चलता, वह बैठ जाती तब वह बैठता, वह पानी पीती, तभी वह भी पानी पीता; गाय को खिलाये-पिलाये बिना खुद नहीं खाता-पीता था।

गाय एक उदार प्राणी है। वह हमारी सेवा और प्रेम पहचानती और अधिक से-अधिक लाभ देने के लिए तैयार रहती है। 'सेवा' शब्द का दोहन कर मैंने यह दूध आपके सामने रख दिया है : एक तो हम बिना उपयोग के किसीकी सेवा नहीं कर सकते; और दूसरे, सेवा किये बिना यदि हम उपयोग करेंगे, तो वह भी अपराध होगा। हमें यह कदापि करना नहीं है। ये दो बातें मैंने आपके सामने रखीं।

अब हम 'संघ' शब्द पर मनन करेंगे।

क्या 'संघ' शब्द में कोई विशेष दृष्टि दीख पड़ती है? चरखे के लिए संघ, हरिजनों के लिए संघ-इस तरह हम लोगों ने कई संघ बनाये हैं। इसी तरह गो-सेवा के लिए भी यह संघ बना है, इतना ही या और भी कुछ अर्थ हो सकता है? मुझे लगता है, इसमें विशेष अर्थ हो सकता है। हिन्दुस्तान की भूमि और गायों की जो आज हालत है, उसे देखिये। प्रायः सहयोगी जीवन के बिना यह काम आगे नहीं बढ़ सकेगा। शायद जगह-जगह इसे संघ का रूप देकर ही यह काम करना होगा। गो-सेवा 'संघ' शब्द से इस तरह विशेष अर्थ निकलने में कोई कठिनाई नहीं।

अब और आगे बढ़ें। गो-सेवा-संघ के कार्य का आरम्भ प्रतिज्ञा से होता है। अभिप्राय यह है कि अगर हम गाय के ही दूध-घी का सेवन करेंगे, तो उसकी सेवा करने की इच्छा पैदा होगी। इसलिए आरम्भ में गाय के ही दूध-घी के सेवन की प्रतिज्ञा रखी गयी है। कई लोग पूछते हैं : "प्रतिज्ञा की क्या आवश्यकता है? बिना प्रतिज्ञा के काम नहीं हो सकेगा?" उत्तर में मैं अपना अनुभव बता दूँ। मैंने देखा है कि संकल्पपूर्वक किया गया प्रयत्न जैसे सफल होता है, वैसा साधारण इच्छा से किया हुआ नहीं। कोई भी महान् कार्य संकल्प के बिना पूर्ण नहीं होता। अगर संकल्प से आरंभ करते हैं, तो आधे से अधिक कार्य वहीं हो जाता है। प्रतिज्ञा सिर्फ यही नहीं कि घी-दूध खायेंगे या नहीं। गाय का दूध-घी बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे, यही प्रतिज्ञा का अभिप्राय है।

प्रतिज्ञा के बारे में प्रायः यह आपत्ति उठायी जाती है कि हम दूसरों के घर ऐसे नियम लेकर जायेंगे, तो उनको कष्ट होगा। इसका जवाब बापू ने अपनी अहिंसा की भाषा में दिया है। मैं अपनी 'अनादर' की भाषा में बताना चाहता हूँ। इतना तकल्लुफ हमें क्यों रखना

चाहिए। सूर्य को हम उसकी किरणों से जानते हैं। वह जहाँ जाता है, अपनी किरणें साथ ले जाता है, चाहे वे किसीको ताप दें या आह्लाद, वह इस बात की परवाह नहीं करता। सूर्य अगर अपनी किरणों को छोड़ता है, तो उसका सूर्यत्व ही जाता रहता है। वैसे ही हमें भी अपनी किरणों को, यानी अपने सिद्धान्तों को अपने साथ ले जाना चाहिए। अगर मैं किसीके घर अपने सिद्धान्तों और विचारों को छोड़कर प्रवेश करता हूँ, तो अपनापन ही खो बैठता हूँ—मैं 'मैं' ही नहीं रह जाता। अगर हम 'स्वत्व' छोड़कर किसीके घर जायँ, तो उसे आनंद होगा, ऐसी बात नहीं। इसलिए प्रतिज्ञा जरूर लेनी चाहिए और लोगों की कल्पित तकलीफों के विषय में निर्भय रहना चाहिए।

अब एक बात और! गाय और भैंस के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। दोनों जानवर मनुष्यों को दूध देनेवाले हैं। दोनों में मौलिक विरोध होने का कोई कारण नहीं। फिर भी हम गाय का ही दूध बरतने की प्रतिज्ञा लेते हैं, तो उसका तत्त्व हम लोगों को जान लेना चाहिए। हिंदुस्तान का कृषि-देव बैल है। यह तो सभी जानते ही हैं कि हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश है। बैल तो हमें गाय के द्वारा ही मिलता है। यही गाय की विशेषता है। उसके साथ-साथ गाय की अन्य उपयोगिता हम जितनी बढ़ा सकते हैं, अवश्य बढ़ायेंगे। लेकिन उसका मुख्य उपयोग तो बैल की जननी के नाते ही है। बिना बैल के हमारी खेती नहीं होती। इसलिए हमें गाय की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए और उसकी सार-सँभाल करनी चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं करते, तो हिंदुस्तान की खेती का भारी नुकसान करते हैं। जब हम इस दृष्टि से सोचते हैं, तो भैंस का मामला सुलझ जाता है। तब यह सहज ही समझ में आ जाता है कि गाय को ही प्रोत्साहन देना क्योंकर हमारा प्रथम कर्तव्य हो जाता है।

मुझे याद आता है, एक बार मेरे मित्र ने उनके प्रान्त में अकाल के समय जानवर किस क्रम से मरे, उसका हाल सुनाया था। उन्होंने कहा : सबसे पहले भैंसा मरता है, क्योंकि हम भैंसे की उपेक्षा करके उसे मार डालते या मरने देते हैं। वर्धा के बाजार में भैंसें ऐसी अवस्था में लायी जाती हैं, जब कि वे एक-दो घण्टों में ही ब्याने को होती हैं। मतलब यह कि लोग उसे तुरन्त खरीद लें। एक बार एक आदमी ऐसी एक भैंस बाजार में ला रहा था। उसी समय मनोहरजी ने, जो कि उन दिनों येलीकेली में महारोगी-सेवा-मण्डल द्वारा महारोगियों की सेवा करते थे, उसको देखा। रास्ते में ही वह भैंस ब्यायी—पुत्र-जन्म हो गया! लेकिन उस आदमी को उस पुत्र-जन्म से बड़ी झुंझलाहट हुई। उसने सोचा, यह कैसा पुत्र? यह तो एक बला आ गयी! मनुष्य को पुत्र-जन्म से आनन्द होता है; लेकिन भैंस के पुत्र को वह सहन नहीं कर सकता! उसने उस पुत्र को वहीं छोड़ दिया और भैंस को ले जाकर वर्धा के बाजार में बेच दिया और जो कुछ पैसा मिला, वह लेकर अपने घर चलता बना। बेचारा भैंस-पुत्र वहीं पड़ा रहा। मनोहरजी ठहरे दयालु! फिक्र में पड़े कि अब इसका क्या किया जाय? जिस खेत में वे रहते, उस खेत के मालिक के पास गये और उससे कहा : "भैया, इसे सँभालोगे?" मालिक ने कहा : "यह कैसी बला? मैं इसे कैसे रखूँ? इसका उपयोग ही क्या है? मैं परवरिश क्यों करूँ? आखिर दशहरे पर बलि के लिए बेचने के सिवा दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है।"

मैंने यह एक नित्य की घटना आपके सामने रखी। तो, सबसे पहले बेचारा भैंसा मरता है। उसके बाद गाय मरती है, फिर भैंस और सबसे आखिर में बैल। बैल सबसे उपयोगी है और इसीलिए उसे सुरक्षित रखने की विशेष कोशिश की जाती है। लोग किसी-न-किसी तरह उसे खिलाते और जीवित रखने की कोशिश करते हैं। यह तो हुई उपयोगिता की बात! बैल इन सब जानवरों में सबसे अधिक

उपयोगी तो सिद्ध हुआ। लेकिन प्रश्न यह है कि गाय की सेवा के बिना अच्छे बैल कहाँ से मिलें ! हिन्दुस्तान का आदमी बैल तो चाहता है; लेकिन गाय की सेवा करना नहीं चाहता। वह उसे धार्मिक दृष्टि से पूजने का स्वाँग रचता है, लेकिन दूध के लिए तो भैंस की ही कद्र करता है। हिन्दुस्तान के लोग चाहते हैं कि उनकी माता तो रहे भैंस और बाप हो बैल ! योजना तो ठीक है; लेकिन वह भगवान् को मंजूर नहीं है ! इसलिए यह मामला बहुत टेढ़ा हो गया है। भैंस और गाय दोनों का पालन हिन्दुस्तान के लिए आज बड़ी मुश्किल बात हो गयी है।

लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि गो-सेवा में गाय की ही सेवा को महत्त्व देना पड़ता है। बापू ने कहा कि अगर हम गाय को बचा लेंगे, तो भैंस का भी मामला तय हो जायगा। इसका पूर्ण दर्शन तो अभी मुझे भी नहीं हुआ और शायद उसकी कभी जरूरत भी नहीं होगी।

गाय और भैंस को एक-दूसरे का शत्रु मानने का कोई कारण नहीं है। लेकिन हमें तो गो-सेवा से आरम्भ करना चाहिए और वही हो भी सकता है। वास्तव में आज हम भैंस की सेवा भी नहीं करते। हम जो भैंस की सेवा करते हैं, वह सच्चे अर्थ में न तो गो-सेवा है और न भैंस की ही सेवा। हम उसमें केवल अपना स्वार्थ देखते हैं। हम भैंस का केवल सेवाहीन उपयोग करते हैं।

जैसा कि मैं बता चुका हूँ, आज भैंसे की हर तरह से उपेक्षा की जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दुस्तान के कुछ भागों मे भैंसे का उपयोग भले ही किया जाता हो, लेकिन साधारणतः हिन्दुस्तान की गरम हवा में वह ज्यादा उपयोगी नहीं हो सकता। भैंस का हम केवल लोभ से पालन कर रहे हैं। नागपुर-बरार में गर्मी के दिनों तापमान एक सौ पन्द्रह डिग्री तक पहुँच जाता है। खासकर उन दिनों भैंस

को पानी जरूर चाहिए। किन्तु यहाँ तो पानी की कमी है। पानी के बिना बेचारी तड़पती रहती है। कारण भैंस पूरी तरह जमीन का जानवर नही है। वह आधा जमीन का और आधा पानी का प्राणी है। गाय तो पूरी तरह थल्चर है। प्राय देखा जाता है कि पानीवाले जानवरों के शरीर में चर्बी अधिक रखी गया है, क्योंकि ठण्ड और पानी से बचने के लिए उसकी उसे जरूरत होती है। मछली के शरीर मे स्नेह भरा रहता है। पानी के बाहर निकालते ही वह सूर्य के ताप से जल जाती है। वैसी ही कुछ-कुछ हालत भैंस की भी है। उसे धूप सहन नहीं होती। इसीलिए लोग गर्मी के दिनों में उसीके मल-मूत्र का उसकी पीठ पर लेप करते हैं, ताकि कुछ ठण्डक रहे। वे जानते हैं कि उस जानवर को उस समय कितनी तकलीफ होती है। देहातों में जाकर आप लोगों से पूछेंगे कि आपके गाँव में कितनी भैंसें और कितने पाड़े हैं, तो वे कहेंगे कि भैंसें हैं करीब सौ-डेढ़ सौ और पाड़े हैं दस-बीस। अगर हम उनसे पूछें कि इन स्त्री पुरुषों या नर-मादाओं की सख्या में इतनी विषमता क्यों, तो हमारे देहातों के लोग जवाब देंगे "क्या करें ? भगवान् की लीला ही ऐसी है कि भैंसा ज्यादा दिन जीता ही नही।" आखिर यहाँ भी भगवान् की लीला आ ही गयी! यह हमारे बुद्धि-नाश का लक्षण है। हम भैंस की तकलीफ का ध्यान न कर उसका उपयोग करते हैं और भैंसे की उपेक्षा कर कहते हैं कि भैंसे अधिक दिन जीवित ही नहीं रह सकते। मतलब, हम भैंस की सेवा करते हैं, ऐसी बात नहीं। उसमें हम सिर्फ भैंस का उपयोग ही करते हैं। बाकी उसकी सेवा के नाम पर शून्य ही रहता है। इसलिए आपकी समझ में आ गया होगा कि सेवा सघ की स्थापना हम किसलिए करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि "हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश है, अत खेती के लिए बैल चाहिए और बैल चाहिए तो गाय भी चाहिए, यह सब तो ठीक है, किन्तु क्या हिंदुस्तान का यही एक अर्थशास्त्र हो सकता है!

क्या दूसरा कोई अर्थशास्त्र ही नहीं हो सकता ? परिस्थिति अनुकूल होने पर हम खेती का काम ट्रैक्टर से क्यों न करें ?"

इसके उत्तर में मैं यह पूछता हूँ कि ट्रैक्टर चलायेंगे, तो बैल का क्या होगा ? जवाब मिलता है : "बैल को हिंदुस्तान के लोग खा जायँ। हिंदुस्तान के लोग दूसरे कई जानवरों का मांस बराबर खाते हैं; उसी तरह बैल का मांस भी खा सकते हैं। यह रास्ता क्यों न अपना लिया जाय ?" इस तरह जब बैलों को खा जाने की व्यवस्था होगी, तभी ट्रैक्टर द्वारा जमीन जोतने की योजना हो सकेगी। कहा जाता है कि यदि बैलों को खाने के लिए हिन्दू तैयार न हों, तो गैर-हिंदू खायें। आज भी हिंदू गाय को बेचते ही हैं। खुद ही कसाई से पैसे लेते हैं और गो-हत्या का पाप उसे दे देते हैं। ऐसी सुन्दर आर्थिक व्यवस्था उन्होंने अपने लिए बना ली है। हिन्दू कहता है कि अगर मैं कसाई को गाय मुफ्त में देता, तो गो-हत्या के पाप का भागी होता। लेकिन मैं तो उसे बेच देता हूँ, इसलिए पाप का हिस्सेदार नहीं बनता। इस व्यवस्था को कुछ और व्यापक करें, तो सब ठीक हो जायगा। हम भैंस से दूध लेंगे, बैलों को खा जायँगे और यंत्रों के द्वारा खेती करेंगे—इस तरह तीनों का सवाल हल हो जायगा।

इसके उत्तर में मैं आप लोगों को यह समझाना चाहता हूँ कि बैलों को क्यों नहीं खाना चाहिए ? पूर्वपक्ष की दलील यह है कि कुछ पूर्व-ग्रह दूषित लोग बैल को भले ही न खायें; लेकिन शेष तो खायेंगे और हम यंत्र के द्वारा मजे में खेती करेंगे। इस विषय में हमारे विचार साफ होने चाहिए। मैं मानता हूँ कि हिंदुस्तान की आज की जो हालत है और आगे जो होनेवाली है, उस स्थिति में यदि हम गो-मांस का प्रचार करें और यंत्र से खेती करें, तो हम जीवित नहीं रह सकेंगे, यह समझ लेना अत्यावश्यक है। हिन्दुस्तान के लोग भी यदि गाय-बैल खाने लगें, तो कितने गाय-बैलों की जरूरत होगी ? उतने बैलों की पैदाइश हम

यहाँ नहीं कर सकेंगे। नाममात्र के लिए मांस खाने का ढोंग तो नहीं करना है ? वह अगर खाना है, तो हमारे भोजन का नियमित हिस्सा होना चाहिए। तभी उससे अपेक्षित लाभ होना हो, वह होगा। लेकिन हम जानते हैं कि प्रतिव्यक्ति सवा एकड़ जमीन के बल पर लोग खा सकें, इतने बैल पैदा नहीं हो सकेंगे। अगर हम इस तरह करने लगें और खेती ट्रैक्टर के द्वारा होने लगे, तो एक तो ट्रैक्टर का खर्च बढ़ेगा, दूसरे मांस भी पूरा नहीं पड़ेगा और आखिर में गाय और बैल का वंश ही नष्ट होने पर उसके साथ मनुष्य भी नष्ट हो जायगा।

यूरोप और अमेरिका की क्या स्थिति है ? दक्षिण अमेरिका में अर्जेण्टाइना नामक एक प्रचण्ड घास-फूस से भरा उजाड़ प्रदेश गाय-बैलों को चरने के लिए पड़ा हुआ है। इसलिए वहाँ जानवर पर्याप्त मिल जाते हैं। केवल ब्यूनॉस आयरिस नामक बन्दरगाह में प्रतिदिन दस हजार से अधिक बैल कटते हैं और वहाँ से मांस के डिब्बे दूर-दूर देशों को भेजे जाते हैं। युद्ध के कारण अब यह व्यवस्था यूरोप के काम की नहीं रही। लेकिन वैसे भी यदि यह सिलसिला ऐसे ही जारी रहा, तो आगे चलकर लोगों को मांस मिलना कठिन हो जायगा, इसलिए यूरोप के डॉक्टरों ने अब यह शोध किया है और बहुत सोच-विचारकर निर्णय किया है—सम्भव है उसमें मतभेद होगा, क्योंकि डॉक्टरों में मतभेद तो हुआ ही करता है—कि मांस की अपेक्षा दूध अधिक गुणवान् है। यह शोध हमारे आयुर्वेदिक वैद्यों और हकीमों ने बहुत पहले किया है। मैं मानता हूँ कि आज यूरोप के लोग जिस तरह मांसाहार करते हैं, उसी तरह हिन्दुस्तान के लोग भी पुराने जमाने में मांसाहार करते थे। आखिर वे इस निर्णय पर पहुँचे कि अगर हम मांस के बजाय दूध का व्यवहार करें, तो हम भी जीवित रहेंगे और गाय भी। इसलिए ट्रैक्टर का उपयोग हमारा सवाल हल नहीं कर सकता। हमें यह समझना चाहिए कि मांस की अपेक्षा दूध पर भरोसा रखना सब तरह से अपरिहार्य और आवश्यक है।

मेरी यह भविष्यवाणी है कि जैसे-जैसे जन-संख्या बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे दुनियाभर में मांस की महिमा कम होती जायगी और दूध की बढ़ेगी। पूछा जाता है कि 'आखिर दूध भी तो प्राणिजन्य ही है न?' हाँ, है तो सही, 'फिर दूध को पवित्र क्यों माना गया?' इसका जवाब अभी मैंने जो कुछ कहा, उसीमें मिल सकता है। जैसा कि अभी मैंने कहा, एक समय था, जब कि हिन्दुस्तान में मांसाहार ही चलता था। उस समय उससे बचने के लिए क्या किया जाय, यह प्रश्न उत्पन्न हुआ। योगियों और वैद्यों ने जब लोगों के सामने गाय के दूध की महिमा का वर्णन किया, तब से दूध ऐसी चीज हो गयी, जिसने लोगों को मांसाहार से छुड़ाया। इसलिए दूध पवित्र माना गया। इसके प्रमाण वेदों में भी मिल सकते हैं। ऋग्वेद में ऐसा वचन है :

'गोभिष्टरेम अमतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।'

इस मन्त्र का अर्थ मैंने इस तरह किया है : "दुनिया की भूख तो हम अन्न द्वारा मिटा सकते हैं। लेकिन 'दुरेवा अमति' का यानी कुमार्ग में ले जानेवाली अबुद्धि, अर्थात् मांस की ओर प्रवृत्त करनेवाली अबुद्धि हम गाय के दूध के द्वारा ही मिटा सकते हैं।" सब तरह की अबुद्धि मिटाने के लिए गाय का दूध हमारे काम आता है। इसीलिए गाय का दूध पवित्र माना गया है और माना जाय। मतलब यह कि कुल मिलाकर यन्त्रवादी जो ट्रैक्टर पर आधार रखने की बात कहते हैं, वह सर्वथा गलत है।

अब मेरे लिए बताने की बातें बहुत कम रह जाती हैं। इसलिए अब अपने इस संघ के सदस्यों के कर्तव्य के बारे में कुछ बताता हूँ। आज तो एक संघ स्थापित हो चुका है। उसके बारे में हिन्दुस्तान को विचार-प्रेरणा देनी है। हम लोगों को एक व्यापक प्रचार-कार्य करना है। लेकिन सर्वप्रथम यह करना चाहिए कि गो-सेवा-संघ के जितने सदस्य हैं, सभी स्वदेशी-धर्म का अनुसरण कर जहाँ रहें, वहीं

कार्य शुरू करें। हर शहर में गाय का शुद्ध दूध सुलभ होने की व्यवस्था करनी होगी। गाँवों में गायें रखकर गो-सेवा को प्रोत्साहन दिया जाय। प्रयोग-क्षेत्र भी उसके निकट ही रखा जाय। हमारे विद्यार्थी जिस तरह गाय की व्यक्तिगत सेवा कर रहे हैं, हो सके तो सभीको उसी तरह व्यक्तिगत सेवा करनी चाहिए। ऐसा न कर यदि हम लोग केवल व्यापक मत-प्रचार के ही पीछे पड़े रहेंगे, तो उतने से यह काम नहीं बढ़ेगा। हमें कुछ सक्रिय सेवा, जहाँ रहें वहीं, शुरू करनी चाहिए। काम करने के बारे में मैंने यह एक पद्धति सुझायी है।

दूसरी बात यह कि हमारे गो सेवा-संघ के अधिकांश सदस्य अन्य रचनात्मक कार्य करनेवालों में से ही हैं। हममें यह एक दृष्टि होनी चाहिए कि हमारे जितने सारे काम हैं, उन्हें हम खंडित रूप में अलग-अलग टुकड़े मानकर करेंगे, तो हमें सफलता नहीं मिल सकती। खादी, ग्रामोद्योग, गोसेवा आदि सब मिलकर एक पूर्ण कार्य है, यह हमें ध्यान में रखना चाहिए।

मैं एक उदाहरण देता हूँ—हम लोग सुरगाँव गये थे। वहाँ हम एक कोल्हू चलाते हैं। उसका तेल गाँववालों को मिलता है। गाँव-वालों से पूछा गया कि "क्या एक कोल्हू से गाँव का काम चल जायगा?" उत्तर मिला : "एक कोल्हू से पूरा काम नहीं चलता।" फिर पूछा गया : "दूसरा कोल्हू क्यों नहीं बैठाते?" उन्होंने उत्तर दिया : "यदि ऐसा हो सका, तो बहुत अच्छा होगा।" फिर तय हुआ कि दो कोल्हू चलाये जायँ। सारा तेल गाँव में पेरा जायगा, तो बाहर का तेल गाँव में नहीं आयेगा और न आने ही दिया जायगा। दो कोल्हू तो बैठाये गये, पर सवाल उठा कि जो खली बनती है, उसका क्या किया जाय? कारण वहाँ पूरे दाम पर खली की माँग नहीं है। फिर खली के अनुपात में गायें पालना तय हुआ। इसी तरह जब हम खादी, कोल्हू, गाय आदि सभी रचनात्मक प्रवृत्तियों को एकत्र कर विचार करेंगे, तब हमारी योजना असफल और अर्थहीन न होकर

सफल और सार्थक होगी। मैं यह कहना नहीं चाहता कि हमें सभी कामों में सिर खपाना चाहिए। लेकिन हमारे जो कार्यकर्ता विभिन्न कामों में लगे हैं, उनके लिए मैं यह एक दृष्टि दे रहा हूँ।

अभी एक प्रश्न पूछा गया कि क्या गो-सेवा का काम रचनात्मक कार्यक्रम में आता है? बापू ने इसका अहिंसा की दृष्टि से और अपनी नम्र भाषा में उत्तर दिया। यही सवाल मुझसे पूछा जाय, तो मैं पूछनेवाले को ही उलटा सवाल पूछूँगा कि "क्या आप गो-सेवा का कार्य विध्वंसक मानते हैं?" यदि वह विध्वंसक नहीं, तो स्पष्ट ही रचनात्मक है। क्या इतना भी समझने की बुद्धि हममें नहीं चाहिए? यदि हम लोग खादी, ग्रामोद्योग और गो-सेवा को अलग-अलग टुकड़े मानेंगे, तो वे सभी कार्य प्राणहीन हो जायँगे। यही हमारा अर्थशास्त्र है और वह हमें समझ लेना चाहिए। उसे हमें परिपूर्ण और सकलांग बनाना है। अपने सदस्यों को मैं बताना चाहता हूँ कि वे गो-सेवा के काम में भेद-दृष्टि न बरतें। उसे परिपूर्ण बनाने के लिए खटें और शास्त्रशुद्ध काम करें।

राजनीति या स्वराज्य-नीति

एक भिखारी सपने में राजगद्दी पर बैठा। उसे यह कठिनाई हुई कि अब राज कैसे चलाऊँ ? बेचारा सोचने लगा : "प्रधानमंत्री से मैं क्या कहूँ ? सेनापति मेरी कैसे सुनेगा ?" आखिर भिखारी का ही तो दिमाग ठहरा। वह कोई निर्णय न कर सका। कुछ देर बाद वह जग गया और उसके सारे प्रश्न हल हो गये।

हमारे साथ भी ऐसा ही कुछ होने जा रहा है। यह मानकर कि हिन्दुस्तान को स्वराज्य मिल चुका है, लोगों ने विचार करना शुरू कर दिया। उन्हें एकदम विश्वरूप दर्शन हो गया। "बाह्य आक्रमण का क्या करें, भीतरी बगावत और अराजकता का सामना कैसे करें ?" एक ने कहा : "हिंसा किसी काम नहीं आयेगी।" दूसरे ने कहा : "अहिंसा के लिए हमारी तैयारी नहीं है।" तीसरा बोल उठा : "कुछ अहिंसा, कुछ हिंसा, जो कुछ बन पड़ेगा, करेंगे। फिलहाल हम गांधीजी को मुक्त कर देंगे। सरकार के साथ तो हमारा अहिंसात्मक असहयोग है ही, लेकिन देखा जायगा। अगर ईश्वर की कृपा और हिटलर के दबाव से सरकार के दिल में सुबुद्धि उपजी और उसने स्वराज्य का शब्दोदक (दान का शाब्दिक संकल्प) हमारे हाथ में दे दिया, तो हम उसके युद्ध-यंत्र में सहायता करेंगे। इंग्लैंड के पास शस्त्र सामग्री है और हमारे पास जन-बल। दोनों को मिलाने पर प्रायः प्रश्न हल हो जायगा।" तात्पर्य यह कि हमें अभी स्वराज्य नहीं मिला है, इसलिए विचारों की ये उलझनें पैदा हो रही हैं। यदि हमने अहिंसा की शक्ति से स्वराज्य प्राप्त कर लिया होता या प्राप्त करनेवाले हो—और कार्य समिति तो साफ साफ कह रही है कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिए हमारे पास अहिंसा के सिवा दूसरी शक्ति

नहीं है—तो उसी शक्ति द्वारा आज की सारी समस्याएँ कैसे हल की जा सकती हैं, यह हमें सूझता या सूझेगा। आज तो श्रद्धा दृढ़ करने का प्रश्न है। ज्ञान क्रमशः ही होता है। यही तो ज्ञान की महिमा है।

लेकिन आज क्या हो रहा है? हमारे नेता गिड़गिड़ाकर सरकार से यह विनती करते हुए देख पड़ते हैं कि "गांधीजी का त्याग करना हमारे लिए आसान नहीं था। लेकिन इतना कठिन त्याग करके भी सहयोग का हाथ आपकी तरफ बढ़ाया है। सरकार हमें स्वराज्य का वचन दे दे और हमारा सहयोग ले ले।"

इस विचित्र घटना पर ज्यों ज्यों विचार करता हूँ, त्यों-त्यों विचार की अधिकाधिक व्यथा होती है। मान लीजिये, सरकार ने यह विनती स्वीकार कर ली और कांग्रेस उसके युद्ध-यन्त्र में दाखिल हो गयी, तो जिस क्षण वह स्वराज्य का वचन प्राप्त करती है, उसी क्षण स्वराज्य के अर्थ को सैकड़ों वर्ष दूर ढकेल देती है, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो रही है।

जिसने हिंसात्मक युद्ध में भाग देने का निश्चय कर लिया, उसने शुरू-शुरू में न्याय-अन्याय का जो कुछ थोड़ा-बहुत विचार किया हो, सो किया हो, लेकिन एक बार युद्ध-चक्र में दाखिल हो जाने के बाद फिर तो न्याय-अन्याय की अपेक्षा बलाबल का विचार ही मुख्य हो जाता है। हिंसा का शस्त्र स्वीकार करने के बाद बलाबल का ही विचार मुख्य है। हमारे पक्ष में अगर कुछ न्याय हो तो ठीक है, न हो तो न सही। हिंदुस्तान या दूसरा कोई भी देश अगर आज के यान्त्रिक संसार की हिंसा में शामिल होगा, तो उसे न्याय और लोकतन्त्र की भाषा तक छोड़ देनी होगी।

ब्रिटेन से आज हिंसात्मक सहयोग करने के लिए तैयार होने का अर्थ केवल अहिंसा का परित्याग ही नहीं, बल्कि हिंसा के गहरे पानी में एकदम उतर जाना है। हिन्दुस्तान अपनी खुशी से यूरोप, अफ्रीका

और एशिया में मानव हत्या के लिए मानवों को भेजे, इसका अर्थ है, दुनिया में विद्वेष की आग लगाने के लिए प्रवृत्त होना। "हम हिंदुस्तान के बाहर आदमी नहीं भेजेंगे', यह कहना सभव नहीं, क्योंकि हिंदुस्तान का बचाव-जैसी कोई अलग चीज ही नहीं रह जाती। अफ्रीका का किनारा, भूमध्यसागर आदि सबको हिंदुस्तान की ही सरहदें मानने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं। अर्थात् काग्रेस की बीस साल की कमाई और उसकी बदौलत ससार में पैदा हुई आशा तो हवा हो ही गयी; लेकिन साथ साथ हिंदुस्तान की हजारों वर्ष की कमाई भी अकारथ गयी। हिंदुस्तान का जितना इतिहास ज्ञात है, उसमें हिंदुस्तानी अपने देश के बाहर स्वच्छापूर्वक सहार के लिए गये हों, ऐसा एक भी उदाहरण नहीं। यह भी सभव नहीं कि हम सिर्फ बचाव के लिए हिंसा करें, हमले के लिए नहीं। कोई भी मर्यादा नहीं रह सकती। 'अमर्यादा पुरुषोत्तम' ही हमारे इष्टदेव होंगे और हम उनकी पूर्ण उपासना करेंगे, तभी सफल होंगे।

फिर, सफल होने का अर्थ क्या है? इग्लैण्ड के जितने शत्रु हैं, उन्हें अपने शत्रु बना लेना! स्वराज्य की पहली ही किश्त में इतना बड़ा शत्रुत्व खरीदने के मानी है, अपने आसपास सदा के लिए परतन्त्रता का प्रबन्ध कर रखना।

आखिर, ससारभर से दुश्मनी मोल लेने का साहस हम किस बिरते पर कर सकते हैं? आज जितनी दूर तक दिखाई देता है, उतने का विचार किया जाय तो यही कहना होगा कि इग्लैंड के बल पर! इस बात पर भी विचार करना जरूरी है। जिस राष्ट्र में जमीन का औसत प्रतिव्यक्ति एक एकड़ हो, उस राष्ट्र के लिए—अगर वह दूसरे राष्ट्रों को लूटने का खयाल छोड़ दे तो—चाहे वह कितना ही जोर क्यों न मारे, फौज पर विशेष मात्रा में खर्च करना स्पष्टत अशक्य है। इग्लैण्ड का आज का दैनिक युद्ध खर्च करीब दस करोड़ रुपया है। ऐसा राक्षसी

खर्च राक्षस ही कर सकते हैं। वह मानव का काम नहीं। हिन्दुस्तान के मानव उसे अपना काम न मानें। दुनिया में ऐसे जितने कुछ राक्षस हैं, वे ही आज दुनिया के लिए आवश्यकता से अधिक हो गये हैं। हिन्दुस्तान को उसमें और बढ़ोतरी नहीं करनी चाहिए। सौभाग्य से हिंदुस्तान की आर्थिक परिस्थिति में कितनी ही उन्नति क्यों न हो, उसके लिए यह बात सभव भी नहीं है। जवाहरलालजी भी कभी कभी कहा करते हैं कि "हिंदुस्तान के लिए बहुत बड़ी फौज रखना सभव नहीं, इसलिए कुल मिलाकर बिना फौज का मार्ग ही उसके लिए श्रेयस्कर होगा।" इस तरह का राष्ट्र स्वाश्रयी रहकर शत्रु निर्माण कला का प्रयोग नहीं कर सकता। फलत उसे पराश्रित होकर उस कला के प्रयोग करने होंगे। इसका अर्थ क्या होगा? इग्लैड से आज हम निरे स्वराज्य का ही नहीं, बल्कि बिलकुल पक्के, पूर्ण स्वराज्य का वचन ले लेते हैं और वह उसे सप्रेम, सधन्यवाद और सव्याज लौटा देते हैं। भगवान् ने अर्जुन को गीता सुनाकर अन्त में कहा "अपनी इच्छा से जो कुछ करना हो, सो कर।" और फिर कहा "सब कुछ छोड़कर मेरी शरण आ।" दोनों का सम्मिलित अर्थ यह है कि "तू अपनी खुशी स मरी शरण आ।" ईश्वर के लिए भक्त को यही करना चाहिए। अंग्रेजों के बारे में हमे भी यही करना होगा।

नैष्ठिक अहिंसा को ताक पर रखकर सरकार से हिंसात्मक सहयोग करने, अर्थात् सरकार और दूसरे हिंसानिष्ठ लोगों का हिंसात्मक सहयोग स्वीकार करने से होनेवाले परिणाम पर ध्यान दिया जाय, तो यही कहना पड़ता है कि हम उस अज्ञ दुर्योधन का ही अनुकरण कर रहे हैं, जो शस्त्रास्त्र और यादवों की सेना लेकर कृष्ण को छोड़ देता है। इसके बदले अगर काग्रेस अपनी अहिंसा मजबूत करे, अनायास मिलनेवाले स्वराज्य की आशा ही नहीं, कल्पना भी त्याग दे, अपने सहयोग का अर्थ नैतिक सहयोग घोषित करे, स्वराज्य का सबध वर्तमान युद्ध से न जोड़े और मिट्टी से गणेशजी की मूर्ति की तरह अपनी शक्ति से

यथासमय अपने अन्तर से स्वराज्य-निर्माण का काम अख्तियार करे, तो क्या यह सब प्रकार से श्रेयस्कर नहीं होगा?

ऐसा स्वराज्य किसीके टालने से टल नहीं सकता। सूर्य भगवान् के समान वह सहज ही उदित होगा। सूर्य तो पूर्व दिशा में उदय होता है, लेकिन उसका प्रकाश और गरमी ठेठ पश्चिम तक फैलती है। स्वराज्य के विषय में भी यही होगा। उसका जन्म तो हिंदुस्तान में होगा, लेकिन उसकी बदौलत सारी दुनिया के लिए मुक्ति का रास्ता खुल जायगा। उसका शत्रु पैदा होने से पहले ही मर जायगा। भीतरी दंगे-फसाद की संभावना मिटाकर ही उस स्वराज्य का आविर्भाव होगा। अतएव भीतरी कलह के निवारण का सवाल सामने आयेगा ही नहीं, कारण वह उसकी सम्भावना नष्ट कर ही पैदा होता है। यही हाल बाह्य आक्रमण का भी होगा। यदि यह मान भी लिया जाय कि इन दो समस्याओं के अवशेष कायम रहेंगे, तो भी उनको हल करना आज जितना कठिन मालूम हो रहा है, उतना नहीं होगा। यह स्वराज्य कितनी ही देर में मिले, वही जल्दी से-जल्दी मिलेगा; क्योंकि वही 'स्वराज्य' होगा और वही चिरजीवी होगा।

लेकिन कुछ लोग यह शंका करेंगे कि हिन्दुस्तान को क्या सचमुच अहिंसा से स्वराज्य मिलेगा? यहाँ इस शंका का विचार करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि यह शंका ही नहीं है। यह तो निष्क्रिय लोगों का निश्चय है। वे यह जानते हैं कि हिन्दुस्तान के लिए अहिंसा से स्वराज्य प्राप्त करना सम्भव नहीं। उनका विश्वास है कि अहिंसा से कभी किसीको स्वराज्य मिल ही नहीं सकता। इसलिए निष्क्रिय रहकर आलोचनात्मक साहित्य की वृद्धि करना उनका निश्चित कार्यक्रम है। तब उनके पीछे पड़ने से क्या लाभ? इसके अलावा, कांग्रेस आज तक यह मानती है कि संगठित अहिंसा ही स्वराज्य का एकमात्र व्यवहार्य साधन है, और ऐसे विचारवाले लोगों के ही लिए यह लेख है।

लेकिन कांग्रेसवालों के दिमाग में कुछ दूसरी तरह की गड़बड़ी

पैदा हो रही है। एक व्यवस्थित सरकार का सामना करके स्वराज्य प्राप्त करना और एकाएक होनेवाले बाहरी हमले या आन्तरिक लड़ाई-झगड़ों का निवारण करना, दोनों उन्हें बिलकुल भिन्न कोटि की समस्याएँ प्रतीत होती हैं। उनके सामने यह जटिल समस्या है कि पहली बात तो हम अपनी टूटी फूटी अहिंसा से साध सकते हैं, लेकिन दूसरी बात बलवानों की नैष्ठिक अहिंसा के बिना सध ही नहीं सकती। वह नैष्ठिक अहिंसा हम कहाँ से लायें? यही उनकी उलझन है।

मेरे नम्र विचार में यह एक भ्रम है और इसका निवारण होना नितांत आवश्यक है। जिस प्रकार स्वराज्य-प्राप्ति नैष्ठिक अहिंसा के बिना असंभव है, उसी प्रकार स्वराज्य-रक्षण भी नैष्ठिक अहिंसा के बिना असंभव है। अब तक दुर्बलों की अहिंसा का एक प्रयोग हमने किया। उसकी बदौलत थोड़ी-बहुत सत्ता मिली या मिलने का आभास हुआ। मैं 'आभास' कहता हूँ, कारण, कांग्रेस के शासन-काल में जो-जो विचित्र घटनाएँ घटीं, उन्हें हम जानते ही हैं। फिर भी उसे आभास कहने के बदले यही मान लिया जाय कि हमने थोड़ी-बहुत सत्ता प्राप्त कर ली। परन्तु इस सत्ताभास अथवा अल्प-सत्ता में—जिसे हम स्वराज्य कहते हैं और जिसके पीछे 'पूर्ण' विशेषण लगाये बिना हमारी आत्मा का समाधान नहीं होता—उस हमारे उद्घोषित ध्येय में जमीन-आसमान का अन्तर है। यह अन्तर चाहे जैसी मिलावटी और अव्यवस्थित अहिंसा से नहीं मिटाया जा सकता। उसके लिए बलवानों की पराक्रमी अहिंसा की ही आवश्यकता होगी, यह समझ लेने का समय अब आ गया है। जितनी जल्दी हमारी समझ में यह बात आ जायगी, उतनी ही जल्दी हमारे विचारों की गुत्थियाँ सुलझ जायँगी।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्वराज्य गणेशजी की वह मूर्ति है, जिसका निर्माण हमें मिट्टी से करना है। नदी के प्रवाह के साथ बहकर आनेवाला वह नर्मदा गणेश नहीं है। हमारे कुछ बड़े-बूढ़ों

की यह समझ हो गयी है कि हमने जो कुछ थोड़ा-बहुत अहिंसा का प्रदर्शन किया है, उससे मानो भगवान् सन्तुष्ट हो गये हैं और उन सन्तुष्ट भगवान् ने हमारे सकट मोचन के लिए यह महायुद्ध भेज दिया है। शुद्ध भाव से किये हुए हमारे उस अल्पतम प्रयत्न और भगवान् द्वारा भेजी गयी इस कृपा के सयोग से अब हमारा कार्य जल्दी ही सिद्ध होनेवाला है, इस कल्पना के भँवर-जाल में पड़ने से हम इस गफलत में हैं कि हमारी कमजोर अहिंसा भी हमें स्वराज्य में दरबस ढकेलकर ही रहेगी। मेढक साँप के मुँह में पहुँचने पर भी अपने मुँह से मछली नहीं छोड़ता। इसी तरह अंग्रेजों के बारे में भी अनुभव आया है कि हमे अनायास स्वराज्य नहीं मिलेगा, यह बात स्पष्ट हो गयी है। लेकिन इसके विपरीत अनुभव हुआ और इग्लैंड ने सचमुच हमें स्वराज्य दे दिया, तो भी वह वास्तव में स्वराज्य नहीं, यह अपनी राय मैं ऊपर पेश कर चुका हूँ। नैष्ठिक अहिंसा के बिना आज जैसे हमें स्वराज्य रक्षा में कठिनाई पड़ रही है, वैसे ही नैष्ठिक अहिंसा के बिना स्वराज्य पाने में भी हमें कठिनाई होनी चाहिए।

तब यह सवाल उठता है कि "क्या आप व्यवस्थित सरकार से लोहा लेना और बाह्य आक्रमण तथा भीतरी अराजकता का प्रतीकार करना, दोनों में कोई फर्क ही नहीं करते ?" उत्तर यह है कि "करते हैं और नहीं भी करते।" एक क्षेत्र मे दुर्बल अहिंसा से काम चल जायगा और दूसरे क्षेत्र में वीर्यवती अहिंसा की आवश्यकता होगी, इस तरह का कोई फर्क हम नहीं करते। यदि स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वराज्य हो, तो दोनों क्षेत्रों मे वीर्यवती अहिंसा की आवश्यकता होगी। लेकिन व्यवस्थित सरकार से टक्कर लेने में उसकी जो कसौटी होगी, उससे भिन्न प्रकार की कसौटी दूसरे क्षेत्रों के लिए होगी, यह फर्क हम करते हैं। उसमें भी मैं भिन्न प्रकार की कसौटी कहता हूँ। निश्चित रूप से 'अधिक' कसौटी नहीं कहता और न 'कम' ही कहता हूँ।

इस पर कुछ लोग कहते हैं : "तुम्हारी सारी बातें मंजूर हैं, लेकिन व्यक्ति की हैसियत से। नैष्ठिक अहिंसा में हमारी श्रद्धा है। हम उसकी तैयारी भी करेंगे। लेकिन हम जनता के प्रतिनिधि हैं। इसलिए हमारे सिर्फ पैर ही नहीं लड़खड़ाते, दिमाग भी डगमगाने लगता है। क्या आज की स्थिति में जनता के लिए अहिंसा हितकर होगी? हमारी राय में न होगी।"

इसके जवाब में दूसरे कहते हैं : "अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से फैसला करा लें।"

मैं कहता हूँ : "यह सारी विचारधारा ही अनुपयुक्त है। आम जनता—जिसकी गिनती चालीस करोड़ से की जाती है, वह जनता—हिंदुस्तान की जनता-जैसी प्राचीन और अनुभवी जनता—अनेक मानव समूह से बनी जनता—बिना किसीसे पूछे-ताछे अहिंसक मान ली जानी चाहिए। उसे बरबस हिंसक पक्ष में ढकेलना या उसकी अहिंसकता का प्रमाण 'अखिल भारतीय' नामधारण करनेवाली कांग्रेस कमेटी से माँगना व्यर्थ समय नष्ट करना है। हिंदुस्तान की जनता अहिंसक, अहिंसक और अहिंसक ही है। वह 'अहिंसावादी' नहीं है। वह 'वाद' तो उसके नाम पर विद्वान् सेवकों को खड़ा करना है। वह 'अहिंसाकारी' भी नहीं है। यह कार्य उसकी तरफ से उसके सत्याग्रही सेवकों को करना है। इन दो को मिलाकर उससे 'क्या तू अहिंसावादी है?' और 'क्या तू अहिंसाकारी है?' ऐसा ऊटपटांग प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। अगर व्यक्तिगत रूप से अहिंसा में हमारी श्रद्धा हो, तो अहिंसा से शक्ति का निर्माण करना हमारा कर्तव्य है। इस कार्य में जनता का उत्तम आशीर्वाद सदा हमारे साथ है। अहिंसा-जैसे प्रश्न के विषय में जनता के मत-परिज्ञान की जरूरत नहीं, उसका स्वभाव-परिज्ञान काफी है।

इस पर फिर कुछ लोग कहते हैं : "यह भी माना, लेकिन हमारा प्रश्न तो तुरत का है। अगर अहिंसा का आग्रह लेकर बैठ जायँगे,

●

इस पर कुछ लोग कहते हैं : "तुम्हारी सारी बातें मंजूर हैं, लेकिन व्यक्ति की हैसियत से। नैष्ठिक अहिंसा में हमारी श्रद्धा है। हम उसकी तैयारी भी करेंगे। लेकिन हम जनता के प्रतिनिधि हैं। इसलिए हमारे सिर्फ पैर ही नहीं लड़खड़ाते, दिमाग भी डगमगाने लगता है। क्या आज की स्थिति में जनता के लिए अहिंसा हितकर होगी? हमारी राय में न होगी।"

इसके जवाब में दूसरे कहते हैं : "अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से फैसला करा लें।"

मैं कहता हूँ : "यह सारी विचारधारा ही अनुपयुक्त है। आम जनता—जिसकी गिनती चालीस करोड़ से की जाती है, वह जनता—हिंदुस्तान की जनता-जैसी प्राचीन और अनुभवी जनता—अनेक मानव समूह से बनी जनता—बिना किसीसे पूछे-ताछे अहिंसक मान ली जानी चाहिए। उसे बरबस हिंसक पक्ष में ढकेलना या उसकी अहिंसकता का प्रमाण 'अखिल भारतीय' नामधारण करनेवाली कांग्रेस कमेटी से माँगना व्यर्थ समय नष्ट करना है। हिंदुस्तान की जनता अहिंसक, अहिंसक और अहिंसक ही है। वह 'अहिंसावादी' नहीं है। वह 'वाद' तो उसके नाम पर विद्वान् सेवकों को खड़ा करना है। वह 'अहिंसाकारी' भी नहीं है। यह कार्य उसकी तरफ से उसके सत्याग्रही सेवकों को करना है। इन दो को मिलाकर उससे 'क्या तू अहिंसा-वादी है?' और 'क्या तू अहिंसाकारी है?' ऐसा ऊटपटांग प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। अगर व्यक्तिगत रूप से अहिंसा में हमारी श्रद्धा हो, तो अहिंसा से शक्ति का निर्माण करना हमारा कर्तव्य है। इस कार्य में जनता का उत्तम आशीर्वाद सदा हमारे साथ है। अहिंसा-जैसे प्रश्न के विषय में जनता के मत-परिज्ञान की जरूरत नहीं, उसका स्वभाव-परिज्ञान काफी है।

इस पर फिर कुछ लोग कहते हैं : "यह भी माना, लेकिन हमारा प्रश्न तो तुरत का है। अगर अहिंसा का आग्रह लेकर बैठ जायँ

तो हम तैयारी तो करेंगे, शक्ति भी प्राप्त करेंगे और कालान्तर में सिद्धि भी प्राप्त कर लेंगे, लेकिन वर्तमान काल में तो हम बिलकुल ही एक कोने में पड़े रहेंगे। दूसरे आगे आयेंगे। सरकार उनकी सहायता ले लेगी और राजनीति में हम पीछे छूट जायँगे।"

कोई हर्ज नहीं। हमें राजनीति से सरोकार ही नहीं। हमें तो स्वराज्य-नीति से मतलब है। जैसा कि गांधीजी ने लिखा है: "जो आगे बढ़ेंगे, वे भी हमारे भाई-बन्द ही होंगे।" मैं तो कहता हूँ कि अपनी इस पवित्र स्वराज्य-साधना में ईश्वर से हम यही प्रार्थना करें कि वह हमें चाहे जिस कोने में फेंक दे, लेकिन भ्रम या मोह में न डाले। हम स्वराज्य-साधक हैं, हमें राज्य-कामना का स्पर्श न हो:

'न त्वहं कामये राज्यम्।'

ग्राम-सेवा वृत्त, अगस्त, १९४०

●

सर्वोदय तथा भूदान-साहित्य

विनोबा-साहित्य

पुस्तक	मूल्य
गीता-प्रवचन १ २५, सजिल्द	१ ५०
गीता प्रवचन(सस्कृत)३.००,	४ ००
कुरान सार	(प्रेस में)
शिक्षण-विचार	२.५०
मोहब्बत का पैगाम	२.५०
धम्मपद	२.००
नगर-अभियान	२.००
लोकनीति	२.००
विनोबा के पत्र	२ ००
भूदान गगा (आठ खड) प्रत्येक	१.५०
क्रान्त दर्शन	१ २५
प्रेरणा-प्रवाह	१.२५
आत्मज्ञान और विज्ञान	१ ००
सर्वोदयविचार स्वराज्य शास्त्र	१.००
ग्रामदान (सशोधित)	१ ००
स्त्री-शक्ति	१.००
ज्ञानदेव-चिन्तनिका	१.००
साहित्यिकों से	१.००
मधुकर	१ ००
दानधारा	१.००
आश्रम दिग्दर्शन	१.००
ग्राम पचायत	०.७५
शान्ति सेना	०.७५
कार्यकर्ता क्या करें ?	०.७५
कार्यकर्ता पाथेय	०.५०
साहित्य का धर्म	० ५०
त्रिवेणी	० ५०
जय जगत्	० ५०
मैत्री आश्रम	०.५०
चीन भारत सीमा सघर्ष	०.५०
शुचिता से आत्मदर्शन	०.४०
साम्यसूत्र	०.३०
राम-नाम : एक चिन्तन	०.३०
सर्वोदय-पात्र	०.२५
भाषा का प्रश्न	०.२५

अन्य लेखक

पुस्तक	मूल्य
समग्र ग्राम-सेवा की ओर (तीन खड)	६.००
समग्र नयी तालीम	१.२५
बुनियादी शिक्षा-पद्धति	०.६०
शासनमुक्त समाज की ओर	०.५०
नयी तालीम	०.५०
सर्वोदय-दर्शन	३.००
अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया	२ ५०
समय और हम	१२ ००
आर्थिक विचारधारा : उदय से सर्वोदय तक	६.००
बाबा विनोबा (छह भाग)	१ ८०
चबल के बेहड़ों में (सक्षिप्त)	१ ५०
" " " (सपूर्ण)	२ ५०
प्यारे भूले भाइयो ! (पाँच भाग)	१.५०
नक्षत्रों की छाया मे	१ ५०
जाजूजी : जीवन और साधना	१.२५
चलो, चलें मंगरौठ	०.७५
जातिवाद और कौमवाद	०.५०
धर्मों की फुलवारी	०.५०
भूदान गगोत्री	२.५०
कोरापुटमें ग्रामविकास प्रयोग	२ ००
भूदान-यज्ञ : क्या और क्यों ?	१.५०
ग्रामदान क्यों ?	१.२५
धरतीमाता की गोद में	०.७५
सर्वोदय विचार	० ७५
शोषण मुक्ति और नवसमाज	० ६२
अकिलो की कहानी	० ६०
भूदान-आरोहण	० ५०

गाँव का गोकुल	० २५
नगर स्वराज्य	० २५
भूदान गीत	० २५
मानवता की नव-रचना	२ ५०
एशियाई समाजवाद	१ ५०
लोकतान्त्रिक समाजवाद	१ ५०
विश्वशान्ति क्या सम्भव है ?	१ २५
सर्वोदय शासन मुक्त समाज	१ ००
सहकारिता और पचायती राज	१ ००
विदेशों मे शाति के प्रयोग	० ७५
पचायती राज को जानिये	० ७५
वर्ग सघर्ष	० ६२
लोक स्वराज्य	० ५०
समाजवाद से सर्वोदय की ओर	० ३७
चरखा सघ का इतिहास	५ ००
बुनाई	४ ००
कपास	२ ५०
कताई शास्त्र	२ ००
खेती क अनुभव	० ८०
गोमाता वसु धरा	२ ५०
पशु लोक में पाँच वर्ष	१ ००
गो सेवा की विचारधारा	० ५०
बच्चों का कला और शिक्षा	८ ००
हमारा राष्ट्रीय शिक्षण	२ ५०, ३ ००
बुनियादी शिक्षा क्या और कैसे ?	१ २५
सफाई विज्ञान और कला	१ ००
सुन्दरपुर की पाठशाला	० ७५
सर्वोदय की सुनो कहानी (५ भाग)	१ २५
कतक थैयाँ घुनूँ मनइयाँ	० ७०
पावन प्रसग	० ५०
भूदान पोथी	० २५
किशोरीलालभाई की जीवन साधना	२ ००
गुजरात के महाराज	२ ००
मेरी विदेश यात्रा	० ६२
यात्रा के पथ पर	० ५०
मेरा जीवन विकास	० ५०
जार्ज फॉक्स का सत्याग्रही जीवन	० ४०
स्वामीनारायणगुरुकी जीवनी	० २५
ऐसा भी क्या जीना !	२ ००
प्राकृतिक चिकित्सा विधि	१ ५०
कुष्ठ सेवा	१ २५
मधुमेह	० ७५
नीति निर्झर	१ २५
सह जीवन सह अध्ययन एक प्रयोग	० ८५
ताओ उपनिषद्	० ७५
चरित्र सम्पत्ति	० ७५
अणुयुग और हम	० ५०
हमारे युग का भस्मासुर अणुबम	० ५०
पारमाणविक विभीषिका	० ५०
विनोबा सवाद	० ३७
सत्याग्रही शक्ति	० ३१
श्रम दान	० २५
धर्म सार	० २५
स्थितप्रज्ञ-लक्षण	० २५
चीन भारत सघर्ष और हमारा कर्तव्य	० ५०